सरहद के पार

सरहद के पार

रामधारी सिंह दिवाकर

दिनमान प्रकाशन
3014, चर्खेवालान, दिल्ली-110006

मूल्य : 35.00 रुपये / प्रथम संस्करण : 1990 / प्रकाशक : दिनमान प्रकाशन, 3014, चर्खेवालान, दिल्ली-110006 / आवरण : जोशी/ मुद्रक : जितेन्द्र प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-32

'पराग गोष्ठी' की स्मृति में
प्रोफेसर कमला प्रसाद सिंह को
तथा
निर्मली के साथियों को
जो सृजन के साक्षी रहे।



सरहद के पार

शहर की हालत आजकल ठीक नहीं है। शाम के बाद ही सन्नाटा छा जाता है सड़कों पर। पंद्रह-सोलह दिन पहले सांप्रदायिक आग की एक चिंगारी बगल के कस्बे से उड़ कर शहर के एक मुहल्ले पर आ गिरी थी। कस्बे में किसी बात को लेकर हिन्दुओं-मुसलमानों के बीच मार-पीट हुई। छुरेबाजी और आगजनी की घटनाएं भी हुई। प्रशासन की सख्ती और राहत का काम उधर चल ही रहा था कि इस शहर के एक मुहल्ले में आग भड़क उठी। यहां भी छिट-पुट वारदातें हुईं, लेकिन अफवाहें ज्यादा उड़ी हैं। मिनट-दो मिनट पर दिखने वाली पुलिस की गश्ती गाड़ियां दहशत पैदा करती हैं। कुछ इलाकों में शाम के बाद लोगों की आमद-रफ्त बिलकुल कम हो जाती है। अपना निवास ऐसे ही इलाके में है, इसलिए मैं एकदम सवेरे लौट आता हूं।

उस दिन भी सवेरे ही लौटा था—शाम से कुछ पहले ही। ऊपर अपने फ्लैट के पास गया तो ड्राइंग रूम का दरवाजा खुला मिला। रूम के बाहर बेढब दुफितिया चप्पलें पड़ी हुई थीं। अंदर बाबूजी सोफे पर अपने दोनों पैर मोड़े बैठे हुए थे। अप्रत्याशित रूप से उन्हें आया देख मैं कुछ क्षणों के लिए स्तंभित रह गया। जाने किस भावनात्मक आवेश के तहत मैंने उनके पैर छुए। उनकी आंखें छलछला आयीं। भर्रायी हुई आवाज में वे देर तक मुझे असीसते रहे।

मैं उनके सामने खड़ा था और देख रहा था कि उन्होंने अपना बोरिया-बिस्तर कहां रखा है। कहीं कुछ दीख नहीं रहा था। मैंने पूछने की गरज से यों ही पूछ लिया, "आपको यहां तक पहुंचने में कोई दिक्कत तो नहीं हुई ?" बाबूजी फीकी-सी हंसी हंसने लगे, "नहीं, कुछ खास नहीं। पता था मेरे पास। फिर भी पूछना पड़ा लोगों से।" वे सामने की दीवार की तरफ देखने लगे। दीवार पर एक बड़ा-सा लैंडस्केप टंगा हुआ था और एक दूसरे फ्रेम में एक हिरन था जो पानी की तलाश में बेतहाशा भागा जा रहा था। ये दोनों चित्र मेरे एक कलाकार मित्र की कलाकृतियां हैं। बाबूजी की आंखें देर तक उन चित्रों की सीध में टंगी रहीं।

इसके बाद जैसे कोई विषय ही नहीं था बातचीत को बढ़ाने के लिए। मैंने गौर से बाबूजी के चेहरे को देखा। कटे धनखेत की तरह चेहरा था उनका—वैसा ही सूखा, सूना और उजड़ा। दाढ़ी के सफेद बाल खूंटियों की तरह उगे हुए थे। गड्ढों में छिपी मरियल-सी आंखों के आसपास धुंध-जैसी कालिमा थी।

अंदर कमरे में गया तो रश्मि ने अस्फुट स्वर में पूछा, "आपके पिता जी हैं क्या ?" "हां, कब आये हैं ?"—थोड़ी ही देर पहले। मैं बाहर निकल रही थी। पीशू को लिए हुए थी गोद में। कि ये बालकनी में चुपचाप खड़े मिले। पूछा कि किसको खोज रहे हैं तो साफ-साफ कुछ बोले नहीं। एकाएक घबरा-से गये। फिर धीरे से बोले, "नरेन···नरेंद्र रहता है यहां ? सहरसा वाला नरेंद्र ?" पूछा कि क्या काम है तो कुछ बोले नहीं। मैंने सोचा कि कैसे विचित्र आदमी हैं। आगे बढ़ने लगी तो बोले, "वो नरेंद्र··· मेरा लड़का है।" मैं ठिठक गयी।···कभी के देखे रहें तब ना !

"अच्छा चाय-वाय कुछ दी ?"

"हां, गयी थी चाय लेकर। बोले, "नहीं पीता हूं।" लौटा कर ले आयी।

कमरे में खड़ा मैं सोचता रहा कि बाबूजी इस तरह एकाएक चले

कैसे आये। वे कभी आये नहीं थे यहां। तकरीबन सात बरसों से उनसे मुलाकात भी नही हुई है। इस बीच सिर्फ तीन बार उनके खत आये थे। हर खत सूचना के तौर पर था। चार-पांच वर्ष पहले माँ की मृत्यु की सूचना लेकर उनका पहला खत आया था। खत इतने विलंब से मिला था कि क्रिया-कर्म भी तब तक समाप्त हो चुके थे। दूसरा खत छोटे भाई की शादी की सूचना लेकर आया था और तीसरे खत में उस बाढ़ का जिक्र था जिसमें घर-द्वार सब डूब गये थे, मवेशी मर गये थे और खड़ी फसल का तिनका तक न बचा था। इस तीसरे पत्र के जवाब में मैंने तीन-सौ रुपये का मनिऑर्डर बाबूजी के नाम भेज दिया था। इस बाढ़-पीड़ित सहायता-राशि को उन्होंने स्वीकार कर लिया था। पावती की रसीद मुझे मिल गयी थी। रसीद पर कैथी लिपि में बाबूजी का हस्ताक्षर था—यदुवीर प्रसाद। शनैः-शनैः एकदम लुप्त होती जा रही इस कैथी लिपि में बाबूजी के हस्ताक्षर को पढ़ने में मुझे कोई असुविधा नही हुई थी। हालांकि मेरी पढ़ाई-लिखाई के सिलसिले में कैथी लिपि कभी आयी नहीं थी, लेकिन पारिवारिक कारणों से इस लिपि का ज्ञान मुझे हो गया था। बहुत पहले जब मैं मैट्रिकुलेशन मे था, बाबूजी के लिए कभी-कभार कैथी लिपि में मुझे कुछ लिखना पड़ जाता था। वैसे बाबूजी को कामचलाऊ उर्दू भी आती थी, लेकिन उर्दू वे लिख नही पाते थे। पढ़ भर लेते थे। उनके पास अपनी शिक्षा-दीक्षा का कोई भी प्रमाण-पत्र नही था। गांव में मौलवी साहब का पुराना मदरसा था जिसमे बाबूजी को कागजात वगैरह पढ़ने-लिखने की व्यावहारिक और कामचलाऊ तालीम मिली थी। चूंकि गांव में खानगी मिडिल स्कूल तब खुला था जब मैं लोअर प्राइमरी पास कर चुका था, इसलिए मेरी आरंभिक शिक्षा भी मौलवी साहब के उसी मदरसे में हुई थी।...बाबूजी के हस्ताक्षर वाली पावती की रसीद पर विस्मृत होती उस लिपि को देखना एक सुखद अनुभव था मेरे लिए। काफी

देर तक मैं कैथी लिपि के अक्षरों को अपनी स्मृति मे लिखता मिटाता रहा था।

···बाबूजी सोफे पर उसी तरह पैर मोड़े बैठे थे। अपनी दोनों टांगों को बाहों से घेर कर बैठने की उनकी परिचित मुद्रा और छत के शून्य में खोयी हुई-सी आखों को देखकर मुझे उस गोरैये की याद आयी थी जो कुछ ही दिन पहले इसी कमरे मे एक आधी मे कही से भटक कर आ गयी थी और रात भर सोफे के नीचे एक कोने मे पडी रही थी। प्राण-रक्षा मे जैसी बदहवासी मैंने उस अकेली पडी गोरैये मे देखी थी, वैसी घबराहट किसी आदमी मे मैंने कभी नही देखी।

बाबूजी एकदम चुप थे। मैंने सन्नाटा तोडने के लिए यों ही पूछ लिया, "आप एकाएक चले आये।" उन्होंने बनावटी खांसी से गला साफ किया। कुछ और बात कहना चाहते थे शायद, लेकिन एकदम संक्षिप्त हो गये, "हां, यों ही।" मैंने अपने पहले वाले प्रश्न को दोहराया,

"डेरा खोजने में कोई दिक्कत भी हुई?"

····"कोई खास नही। लिखा हुआ था।" बोलते हुए उन्होने पर्चा मेरी ओर बढा दिया। पर्चे पर कैथी लिपि मे मेरे निवास का पता था।

बात फिर चुप्पी के बीच कही फंस गयी। वे फिर सामने की दीवार की तरफ देखने लगे थे। कमरे के बाहर सूर्यास्त की उजास कटे हुए प्रतिबिंब की तरह अधखुले दरवाजे से आ रही थी बाबूजी के आधे चेहरे पर उस उजास की छाया थी जिसमे उनकी अधमुंदी आंखों का मौन महसूस किया जा सकता था।

शहर की वारदातों और अफवाहों की दहशत में मार्च महीने की तनहा शाम बाहर की सड़क पर धीरे-धीरे गहरा रही थी। विचित्र-सी घुटन थी कमरे में। तकरीबन सात बरसों बाद बाबूजी से मुलाकात हुई थी, लेकिन उनके पास कहने के लिए कुछ नही था। संवादहीनता का वह

तनाव मुझे न वहां से उठने दे रहा था न इतमीनान से बैठने ही दे रहा था। मेरा कोई दुश्मन नहीं था वहां। सामने बैठे हुए व्यक्ति मेरे बाबूजी थे, लेकिन ऐसा लगता था जैसे मैं बस की उसी सीट पर बैठ गया हूं जिसकी बराबर की सीट पर मर्डर केस का मेरा मुद्दालह बैठा हो। पता नहीं, एक अबूझ से मानसिक तनाव में यह सब मैं क्यों सोच रहा था। कम से कम बाबूजी की बाबत यह सब सोचना शांत और विवेकशील मन:स्थिति में निश्चय ही गैरवाजिब था। उनके साथ वैसा तनावपूर्ण कोई भी रिश्ता नहीं था। बस सूखती हुई झील की तरह हम दोनों के बीच की आतंरिकता थी, जिसमें आरोप-प्रत्यारोप का कोई भी दृश्य-आधार नहीं था।

किचन में रश्मि नाश्ता तैयार कर रही थी।—"उनके लिए बना रही हो?" मैंने पूछा तो रश्मि ने कड़ाही में पकते हलवे की तरफ देखते हुए कहा, "आप भी ले लीजिएगा।" किचन में हल्का अंधेरा था, लेकिन पहले से किचन में रहने के कारण रश्मि को अंधेरा महसूस नहीं हो रहा था। मैंने बल्ब जला दिया। थोड़ी देर वहीं खड़ा रहा। समझ में नहीं आ रहा था कि बाबूजी से क्या बात करूंगा। अलग-अलग संदर्भों के कटे हुए वाक्यों को लेकर मैं फिर ड्राइंग में गया और सामने बैठते हुए पूछा, "घर का हाल-चाल कैसा है?"

"अच्छा नहीं है।" उनका सपाट और बेलाग जवाब था। बाबूजी का यह वाक्य प्रसंग-बीज की तरह था। मैं बीजांकुर को जड़ से ही तोड़ देना चाहता था। बाबूजी मेरी चुप्पी को स्पष्टीकरण का संकेत समझ बैठे थे। कहने लगे, "बस जी रहे हैं किसी तरह। हम-लोग तो···" इसके बाद उनकी आवाज एकाएक कट गयी। शायद वे भीतर से लड़खड़ा गये थे। संभलते हुए बोले, "किरन यहीं अस्पताल में है। ऑपरेशन हुआ है पेट का। आज तेरहवां दिन है।···नहीं, चौदहवां दिन है आज। पट्टी खुल गयी है। फिर भी···।"

"चौदह-पंद्रह दिनों मे आप यहीं हैं आपने खबर नहीं दी ?" मैं भीतर से बेहद अपमानित महसूस कर रहा था। चौदह दिनों से बाबूजी मेरी छोटी बहन को लेकर यहीं, इसी शहर के अस्पताल मे हों और मुझे खबर तक न हो, यह बात मुझे बुरी तरह कचोटने लगी थी।

बाबूजी एकदम निरुत्तर हो गये। मेरे भीतर बौखलाहट थी। मुझे लग रहा था कि बाबूजी के पास इसका उत्तर है जरूर, मगर वे कहना नहीं चाहते।

उत्तर के उस भाषाहीन अर्थ को मैं समझ रहा था। वह स्थिति साफ-साफ महसूस हो रही थी जिसके तहत एक अंतराल हमारे बीच कायम हो गया था। धीरे-धीरे सर्द होते रिश्ते के प्रति अपनी-अपनी तटस्थता लेकर हम जहां तक पहुंचे थे, उसके बाद से किसी अभ्युक्ति की कोई आवश्यकता हम दोनों को शायद नहीं थी।...लेकिन बाबूजी चले कैसे आये क्या अपनी पराजय को वे जीत में बदलने का निर्णय लेकर इस तरह चले आये है ? यहीं अस्पताल में मेरी बहन का ऑपरेशन हो, दो हफ्ते बीत जायें और मुझे खबर तक न हो, क्या यह प्रतिशोध नहीं है उनका...न आते। क्या फर्क पड़ जाता ?

बाबूजी का उत्तर शायद मुझे मिल गया था। अपने भीतर के किसी पत्थर बने अंश को घिसने का प्रयास करते हुए पूछा, "कौन-सी बीमारी है किरन को ?"—"पेट की बीमारी थी।" गांव मे ब्लॉक के डॉक्टर ने कहा—"पटना या दरभंगा ले जाइए, किसी बड़े अस्पताल में। ऑपरेशन का केस है।"...बाबूजी कुछ सोचने-से लगे। थोड़ी देर चुप रह कर कहने लगे—"हार कर आना पड़ा। बड़ी मुसीबत थी। पैसे-कौड़ी का कोई उपाय नहीं था। आखिर सुलेमान भाई बोले कि चलिए पटना। पटने में उनकी बेटी रहती है न नग्मा। दामाद यहीं अस्पताल वाले कॉलेज में क्लर्क हैं।...कोई दिक्कत नहीं हुई। सुलेमान भाई के दामाद ने सब इंतजाम कर दिया।"...बोलते हुए उनकी आवाज थक गयी थी। कुछ क्षणों

तक सुस्ताने के बहाने वे दरवाजे के बाहर अंधेरे की तरफ देखने लगे।

बहुत दिनों बाद सुलेमान चाचा की याद आयी। बिलकुल पड़ोस में —अपने घर के बाद का दूसरा दरवाजा है उनका, जहां से मुसलमान टोले की सरहद शुरू होती है। जब मैं छोटा था, मुझे अपने और सुलेमान चाचा के घर में ज्यादा फर्क महसूस नहीं होता था। ऐसा भी होता कि अपने घर में कभी नमक नहीं रहता, या कभी सरसों का तेल ही कम हो जाता तो मां मुझे या किरन को सुलेमान चाचा के घर भेज कर मंगा लेती थी। सुलेमान चाचा के घर में कोई जरूरत होती तो सबसे पहले मेरे घर में पूछ-ताछ की जाती। सुलेमान चाचा की बेटी नग्मा और किरन में बहिनपा लगा हुआ था। इस रिश्ते की वजह से नग्मा की अम्मी मेरी मां को 'दियादनी' कहती थी। सुलेमान चाचा के पास ज्यादा खेती थी, इसलिए उनकी हालत बेहतर थी और कई मायनों में बाबूजी को सुलेमान चाचा पर निर्भर रहना पडता था। सुलेमान चाचा और बाबूजी हमउम्र थे, मौलवी साहब के मदरसे में दोनों की तालीम हुई थी, इसलिए सखा-भाव भी था। यह संयोग ही था कि जिस मौलवी साहब ने बाबूजी और सुलेमान चाचा को पढ़ाया, उन्होंने मुझको, किरन को और नग्मा को भी उसी दालान वाले मदरसे में पढ़ाया। उन दिनों कोई स्कूल ही नहीं था गांव में। जब मिडिल स्कूल खुला, मैं मौलवी साहब के मदरसे का तीसरा और आखिरी दर्जा पास कर चुका था। मदरसा सुलेमान चाचा की दालान में चलता था, इसलिए लगभग मेरे दरवाजे पर ही था। किरन छोटी थी। नग्मा के साथ उसकी पढ़ाई की शुरुआत भी मौलवी साहब के मदरसे से हुई। बाद में किरन और नग्मा उसी खानगी मिडिल स्कूल में पढ़ने लगी जिसमें दो साल पहले मेरा दाखिला हुआ था। मिडिल के बाद गांव में आगे की पढ़ाई की कोई सुविधा नहीं थी, इसलिए किरन और नग्मा की तालीम वहीं रुक गयी। मैं गांव से दूर कस्बे में हाई स्कूल में पढ़ने चला गया।

मैट्रिकुलेशन के बाद पटना विश्वविद्यालय में मेरा प्रवेश हुआ। घर के साथ दुआ-सलाम का रिश्ता रहा। समय पर मनिऑर्डर मिल जाया करता था। मनिऑर्डर की उस राशि का इतजाम कहां से होता था, इससे मेरा कोई सरोकार नहीं था। मनिऑर्डर मे कभी देर हो जाती तो बाबूजी का क्षमा-याचना जैसी भाषा में पत्र आ जाता था। उस पत्र से इतना आभास अवश्य होता था कि बडी मजबूरी में रुपये भेजे जा रहे हैं। इस विषय पर माथा-पच्ची करने का अवकाश मेरे पास नही था। कि बाबूजी की क्या मजबूरी है।

ऑनर्स के साथ बी० एस० सी० किया। उसी वर्ष बिहार लोक सेवा आयोग की परीक्षा में उत्तीर्णता मिल गयी। प्रोबेशन पीरियड में जब रांची में ट्रेनिंग चल रही थी, उन्ही दिनो बाबूजी ने सुलेमान चाचा को मेरे पास भेजा था। वे सवाद-वाहक के रूप मे मेरे पास आये थे। उन्ही से मालूम हुआ था कि बाबूजी ने मेरी शादी तय कर रखी है। बगल के गांव मे कोई लड़की है जिसके अभिभावक को बाबूजी ने 'जबान' दे रखी है। समधी के रूप में तीन-चार वर्ष पहले से आना-जाना चल रहा है। सुनकर मुझे हंसी आयी थी। शादी मुझे करनी है और रिश्ता बाबूजी तय कर रहे हैं। दरअसल अपनी सहपाठिनी रश्मि से मैं शादी करना चाहता था। हम दोनो के बीच आगे के उस रिश्ते की आधार-भूमि तैयार हो गयी थी और मुडना बहुत कठिन हो गया था। मैंने सुलेमान चाचा को साफ-साफ कह दिया कि शादी मुझे करनी है। अपना भला-बुरा मैं खुद सोचता हूं।··· सुलेमान चाचा लौट कर चले गये।

पटने मे ही मेरी नियुक्ति हो गयी। दोस्तों से मिलकर शादी का दिन भी तय कर लिया गया। बाबूजी को शादी की तारीख भेज दी। लेकिन वे आये नहीं। यह शादी उनके और मेरे बीच की अंतिम विभाजक-रेखा बन गयी शायद। गांव, घर या बाबूजी की कोई आवश्यकता भी नहीं रह गयी थी मुझे। कोई पत्र-व्यवहार भी नही हो रहा था। साल भर बाद

मुझे मालूम हुआ कि बाबूजी मान किये बैठे हैं। कहते हैं कि नरेन्द्र को खुद आना चाहिए। मेरा आरोप था कि मेरी शादी मे वे शामिल नही हुए, मेरा अपमान हुआ है। गाव-घर की प्रतिक्रियाएं मुझ तक पहुंच रही थी और वे प्रतिक्रियाएं मेरे भीतर तनाव पैदा कर रही थी। आखिर मैंने सोच लिया कि गांव नही जाऊंगा। चार वर्षों तक बाबूजी भी एकदम चुप रहे। उसके बाद शायद पराजित होकर उन्होने एक-एक वर्ष के अंतराल पर तीन पत्र लिखे जिसकी चर्चा मैं पहले कर आया हूं।

···इतने लंबे समय के बाद बाबूजी एकाएक आ गये हैं। मुझे लगता है, उन्होने अपनी पराजय स्वीकार कर ली है! लेकिन दूर के किसी रिश्तेदार की तरह वे महज भेंट-मुलाकात वाली रस्म-अदायगी करने क्यों आये हैं? चौदह दिनों से पटने में हैं। हॉस्पिटल मे मेरी बहन का ऑपरेशन हुआ है और अब जब कि वे गाव लौटने वाले हैं। एक बार इधर चले आये हैं।

ट्यूब लाइट की रोशनी में बाबूजी को देखता हूं। सोफे पर बैठे हुए वे झपकी ले रहे हैं। उनकी वही पोशाक है—पहले वाली। खद्दर का पूरी बांह का कुर्ता जो कई जगहों से तुड़ा-मुड़ा है। घुटने से कुछ नीचे तक जैसे-तैसे बंधी हल्के गेरुए रंग की धोती।···मुझे याद आता है कि कपड़े का यह रंग कुएं के पानी की वजह से है। सोचता हूं कि अब तक वही कुआं है घर पर और उसी हालत मे है: बाबूजी उसी कुएं की बाबत कहते थे कि हर साल यदि कुएं को उलीचा न जाय तो पानी गंदा और बदबूदार हो जाता है। जिस कुएं से बराबर पानी नही निकाला जाता, वह कुआं धीरे-धीरे भर जाता है।···बाबूजी की धोती का गेरुआ रंग देख कर मुझे लगता है, वह कुआं निश्चय ही भर गया होगा।

बैठे-बैठे बाबूजी उसी तरह ऊंघ रहे थे। मैंने कहा, "खाना खा लीजिए अब।" वे एकाएक जैसे सतर्क हो गये, "नही,···खाना आ गया होगा वहां अस्पताल मे।"

"अस्पताल में ? ···कहां से आया होगा ?"

बाबूजी एकाएक चहक-से उठे, "अरे,···वो सुलेमान भाई के दामाद हैं न···नग्मा के···।"

"अच्छा हां। नग्मा यहीं रहती है।"

"हां, पहले उधर दरभंगे में थी। अब यहीं है। क्या नाम है मुहल्ले का···? ···हां, मुसल्लहपुर। वहीं रहती है।"

मैं एकाएक छोटा,···बहुत छोटा पड़ गया था। मुझे लग रहा था, मैं दूर, बहुत दूर होता जा रहा हूं और बाबूजी की आकृति धीरे-धीरे ओझल होती जा रही है।

बाबूजी की आवाज किसी अतल से उठती हुई प्रतीत होती है, "दामाद के कारण कोई दिक्कत नहीं हुई। ऑपरेशन का पैसा भी नहीं लगा। बस खाली दवा और थोड़ा-सा सामान लगा—ईथर, इंजेक्शन वगैरह।···" बाबूजी किसी आत्मिक आह्लाद में डूब कर बोल रहे थे जैसे। "अरे, वो नग्मा तो सखी है न किरन की। जिस दिन ऑपरेशन हुआ—करीब दो बजे दिन मे, तब से लेकर रात भर बैठी रही वह। दूसरे दिन गयी। खाना भी घर से ही भिजवाने लगी। मैंने कहा भी कि खा लिया करूंगा, लेकिन जिद कर बैठी। दोपहर का खाना दामाद ले आते हैं दफ्तर आते वक्त। रात का खाना भी नग्मा भिजवा देती है। किरन को तो सादी खिचड़ी खिलानी पड़ती है। वह भी वहीं से बन कर आती है। ''डॉक्टर बोला है कि अब रहने की जरूरत नहीं है। कल या परसों छुट्टी मिल जायेगी अस्पताल से।···"

बाबूजी प्रसन्न मुद्रा में बोल रहे थे और मुझे लग रहा था, अपने ही भीतर के किसी दलदल में मैं आकंठ धंसता जा रहा हूं। कोई अंश धीरे-धीरे कटा जा रहा था अंदर का। लेकिन बाबूजी के मन मे गजब का उत्साह था। परिचित मरियल-सी आवाज की जगह किसी अतिरिक्त उत्साह से बढ़ी हुई आवाज थी—"···सुलेमान भाई का सहारा न मिलता

तो मर गयी होती किरन। दुल्हाजी तो कलकत्ते मे रहते हैं। किरन के घरवालों को तो मतलब ही नही है किसी के मरने-जीने से। मुझे खबर मिली। किरन को ले आया। ब्लॉक के डॉक्टर से दिखाया तो डाक्टर ने कहा—ऑपरेशन का मामला है। दरभंगा या पटना ले जाइये। लेकिन ले कैसे जाते? घर में तो कुछ था नही। आखिर सुलेमान भाई ने मदद की। बोले कि चलिए पटना—वहां तो अपने दामाद हैं ही अस्पताल में। रुपये भी उन्होंने ही दिये साथ-साथ आये अपने खर्च से।…"

किसी अंतरंग कृतज्ञता से बोझिल उनकी आवाज टूटने-सी लगी, "गांव मे इतने लोग हैं। अपने भाई-भतीजे, चाचा, गोतिया सब हैं, लेकिन जरूरत पड़ने पर सबने हाथ खींच लिये। बड़े भइया से उधार मांगा तो अपने बड़े बेटे सुरेश के विषय में बोले कि वही मालिक है घर का। सुरेश ने बहाना बना दिया—रुपये कहां हैं काका।…बाद में एक-दूसरे आदमी से मालूम हुआ कि सुरेश कहता है—कौन देगा उधार! जिस आदमी को उसका बेटा ही नही पूछता है उसको कौन देगा उधार?"

किसी अपमान के जहर को पीते हुए बाबूजी एकदम कारुणिक हो गये थे। मैं सोच रहा था, क्या बाबूजी अपने अपमान के बहाने मुझे अपमानित करने की कोशिश तो नही कर रहे है?…उन्होने तो निश्चय कर रखा था कि यदि मैं उनके पास नही जाऊंगा तो वे कभी नहीं आयेंगे मेरे पास। फिर वे आ कैसे गये एकाएक?

खाना उन्होंने नही खाया। यही कहते रहे कि वहां आ गया होगा खाना। बर्बाद हो जायेगा। रहने दो।…

रात हो गई थी। घड़ी में समय देखा—नौ बज रहे थे। जाने के पहले बाबूजी बोले, "मुन्ना कहां है?" देख लेता एक बार।" मुन्ना मेरे बेटे के नाम का सामान्यीकरण था। वैसे हमलोग बीशू कहते हैं अपने मुन्ने को।

अन्दर बेडरूम मे बीशू गाढ़ी नींद में सो रहा था। सोई हुई स्थिति मे ही मुन्ने को गोद में उठा कर बाबूजी के पास ले आया। गोद में लेने के

लिए उन्होंने बाहें पसार दीं। कुछ क्षणों तक वे यीशू को निहारते रहे। ट्यूब लाइट की दुधिया रोशनी में यीशू का धप-धप गोरा चेहरा कुछ ज्यादा गोरा लग रहा था। बाबूजी की गोद में यीशू एकाएक जोर से चीखा। इतनी जोर से चीखा कि अन्दर से रश्मि दौड़ी हुई आ गई। बाबूजी अनुभवी आदमी की तरह बिलकुल अनुद्विग्न हुए बोले, "डर गया है सपने में। इसके सिरहाने कजरौटा या लोहे की कोई चीज रख दिया करो। नहीं डरा करेगा।"

बाबूजी उठने लगे। बाहर अंधेरा था। मैंने रोकना चाहा उन्हें, "अभी जाना ठीक नहीं है बाबूजी! शहर में अशांति है।" बाबूजी धीरे से हंसे, जैसे किसी अबोध बच्चे की बात हो यह,—"नहीं, कोई बात नहीं। शहर के लोगों को डर होगा। हम लोग देहात के हैं।···फिर जाना जरूरी है। किरन अकेली होगी वहां।"

बाबूजी रुके नहीं। सीढ़ियों से नीचे उतरते हुए उन्होंने किरन का बेडनम्बर और डॉक्टर का साइड बता दिया। यह भी बोले कि कल भर हैं, परसों चले जायेंगे।

मैं रोड तक उन्हें छोड़ने गया। बिलकुल सूनी थी सड़कें। भीतरी दहशत के कारण अंधेरा ज्यादा भयावह लग रहा था। मैंने कहा, "अगले चौराहे पर शायद कोई रिक्शा मिल जाय।" बाबूजी में वही निश्चिंतता थी। बोले, "कोई बात नहीं। बहुत दूर नहीं है।"

अपने निवास की तरफ लौटते हुए मैं बाबूजी की ही कही हुई एक लोक-कथा पर सोच रहा था जिसमें एक पंडित एक शापित नदी के किनारे बैठा था। उसने नदी में एक उंगली डाली और पाया कि वह उंगली पत्थर बन गई है। वह इसी सोच में नदी किनारे बैठा हुआ था। तभी लट्ठ लिये एक देहाती आदमी आया और बिना कुछ सोचे-विचारे नदी में प्रवेश कर गया। फिर तैरता हुआ उस पार चला गया।

दूसरे दिन दफ्तर से कुछ पहले लौटा। रश्मि यीशू के साथ पहले से तैयार बैठी थी। हॉस्पिटल के सर्जिकल ब्लॉक बेड नम्बर पैंतीस पर जो मरीज लेटी हुई थी उसको पहचान पाना मुश्किल था कि वह मेरी छोटी बहन किरन है। तीमारदारी करने वाले बाबूजी उस वक्त नहीं थे वहां। हम लोगों को देखते ही किरन उठ कर बैठने की कोशिश करने लगी। सहारा देकर मैंने उसे बिठा दिया। क्षीण-सी मुस्कराहट किरन के बीमार सूखे चेहरे पर उभरी, लेकिन कुछ ही क्षणों बाद न जाने क्या हुआ कि वह एकाएक रोने लगी। रश्मि किरन के पायताने बैठी थी। मैं यीशू को अपनी गोद में लिये हुए रश्मि के सिरहाने के पास था। किरन ने जाने कितनी बार यीशू को चूमा। फिर जोर-जोर से रोने लगी। अगल-बगल के बेडों पर पड़ी रुग्णाओं और उनकी तीमारदारी करने वाले लोगों के लिए हम तमाशा बन रहे थे। मैंने किरन को किसी तरह चुप कराया, लेकिन सिसकियों के रुकने के बावजूद उसकी आंखें लगातार रोती रहीं।

एकदम दुबली-पतली हो गई थी किरन। चेहरा सूखा और पीला पड़ गया था। किरन को देख कर मुझे निर्जल मेघ की हल्की परत के बीच कटे हुए चांद की याद आई थी। उस क्षण किरन का बचपन याद आ रहा था मुझे। गांव के मिडल स्कूल में दो जमात पीछे पढ़ने वाली किरन और नरमा'''वर्ग शुरू होने के पहले प्रार्थना हुआ करती थी। प्रार्थना की घंटी बजते ही तमाम विद्यार्थी पंक्तिबद्ध खड़े हो जाते थे। प्रार्थना की अगुआई करने का दायित्व मेरा और किरन का था। हम दोनों मिल कर आगे-आगे गाते थे—

"हे प्रभु, आनन्ददाता, ज्ञान हमको दीजिए।
शीघ्र सारे दुर्गुणों से दूर हमको कीजिए।
लीजिए हमको शरण में हम सदाचारी बनें······"

मुझसे सिर्फ तीन वर्ष छोटी किरन, लेकिन उसके शरीर का विकास देख कर मां कहती थी कि लड़की बदनसीबों के समान बढ़ती है। मां कह;

कर हंसने लगती थी और किरन लजा कर भाग जाती थी।···चंचल और नटखट वही किरन धीरे-धीरे स्मृति के पार चली गई। जाने कैसे बाबूजी ने किरन की शादी की। जीजा जी को मैंने कभी देखा नहीं। इतना मालूम हुआ कि वे कलकत्ते में कोई छोटी-मोटी नौकरी करते हैं। साल-छह महीने पर कभी आते हैं और महीने पन्द्रह दिन रहकर चले जाते हैं।

···लेकिन हॉस्पिटल के बेड पर यह जो किरन लेटी हुई है वह बचपन की उस किरण के करुण व्यंग्य-चित्र की तरह लगती है। चित्त लेटी हुई है किरन। आंखों के कोरों से गिरे हुए आंसुओं से सिर के अगल-बगल का बिछावन भीग गया है। कुछ बोलती नहीं है वह। बस कभी-कभी अन्दर-ही-अन्दर रोने के दरम्यान आने वाली हिचकियां घुटती हुई प्रतीत होती हैं।

घंटे से ज्यादा निकल गया है। बाबूजी बाजार से लौट आये हैं। पूछते हैं, "कब आये हो?" मैं घड़ी में समय देखता हूं और समय को ज्यादा बताता हूं, "करीब डेढ़-दो घंटे से हूं।" बाबूजी नीचे फर्श पर बैठ जाते हैं, "अब ठीक है सब। रोग निकल गया है शरीर से। कल, नहीं तो परसों चले जायेंगे। शाम में गाड़ी मिलती है न प्रयाग एक्सप्रेस—जोगबनी वाली!···"

मुझे कुछ पता नहीं है। फिर भी कहता हूं, "हां, शायद शाम में ही है।"

किरन एकटक देख रही है—मुझको, रश्मि को और मीशू को। उसकी आखें पत्थर की आंखों-सी स्थिर हैं। मुझसे बर्दाश्त नहीं होता। कुछ बेधता-सा लगता है। चलते वक्त बाबूजी से कहता हूं, "कोई जरूरत हो तो···"

"नहीं,···कुछ नहीं।···फिर नम्मा तो है ही यहां।" बाबूजी की संतुष्टि और मुस्कराहट जब्त करती हुई प्रतीत होती हैं मुझे। लगता है, किसी तेज धार वाले हथियार से आहिस्ता-आहिस्ता कोई मुझे छील रहा है। बाबूजी प्रसन्न मुद्रा में कहते हैं,—"छुट्टी मिल जायेगी कल।······लेकिन नम्मा

तो जाने नहीं देगी कल । परसों शाम की गाड़ी पकड़ लेंगे।

शहर अभी तक सामान्य नहीं हुआ है। अँधेरा होते ही सड़कें सूनी हो जाती हैं। पन्द्रह-सोलह दिन पहले सिर्फ दो दिन के कर्फ्यू ने किसी गम्भीर बीमारी की तरह शहर को अन्दर से बहुत कमजोर कर दिया है। फिर भी जाना ही पड़ा स्टेशन। गाड़ी नहीं आई थी प्लेटफार्म की बेंच पर किरन बैठी हुई थी। उसी से सटकर नग्मा बैठी थी। पहचान में नहीं आ रही नग्मा। "आदाब भाई जान" मुस्कराती है नग्मा बहन। गौर से देखता हूं। एकदम भरी-पूरी, स्वस्थ और प्रसन्न। बगल में एक लड़का नग्मा का कंधा पकड़े खड़ा है—चार-पांच साल का होगा। अन्दाजा लगाता हूं, नग्मा का बेटा होगा। जो सज्जन टिकट लेकर आते हैं, मैं समझ जाता हूं, वे नग्मा के शौहर होंगे। बाबूजी मुस्कराते हैं, "यही हैं दामाद जी—रफीक आलम। रफीक साहब 'आदाब अर्ज' कह कर मेरी तरफ देखने लगते हैं—"नरेन्दर जी......" मैं मुस्कराने की कोशिश करता हूं; लेकिन इस कोशिश में मुझे लगता है, मेरा चेहरा कारुणिक हो गया है। बाबूजी कहते हैं, "देखते हो न यह सौगात! इस टोकरी मे पूरा 'सर-सनेस' भरा हुआ है। पूरी बिदाई ही कर दी है नग्मा ने। धोती, साड़ी, मिठाई, पान-सुपारी...।" बाबूजी की प्रसन्न मुख-मुद्रा में दुख या अभाव की कोई रेखा तक नहीं है। बुढ़ापा उनके शरीर से सरक कर जैसे मेरे अन्दर आ गया है और किसी संक्रामक रोग के कीड़े की तरह रेंग रहा है। मुझे भीतर से बेचैनी हो रही है।

शहर मे तनाव है। मुझे जल्दी लौटने की चिन्ता हो रही है। गाड़ी आ गई है। किरन और नग्मा गले मिल रही हैं। मैं खिसक कर बगल में खड़ा हो जाता हूं। देखता हूं नग्मा को। शहरी तहजीब के बावजूद बुरका नहीं पहना है उसने।

विदा के समय बाबूजी के पैर छूता हूं। हड़बड़ी में होने के कारण वे आशीष देना भी भूल गये हैं। नग्मा किरन को सहारा देकर डिब्बे में बिठा

रही है। मैं चुपचाप देख रहा हूं। मेरे लिए कोई काम ही नहीं है।

प्लेटफार्म की भीड में मैं अकेला खड़ा हूं और देख रहा हूं। किरन का आंसुओं से भीगे चेहरे का अर्द्धांश मेरी तरफ है। नग्मा खिड़की के पास खड़ी बाबूजी से कुछ कह रही है। गाड़ी धीरे-धीरे खिसकने लगती है। नग्मा आंचल से आखें पोंछती है। ··लेकिन मेरे भीतर कोई भावनात्मक आवेश नहीं है। खिसकती गाड़ी से किरन मेरी तरफ देखती है। उसके आंसुओं का बांध टूट गया है। बाबूजी ने मेरी तरफ एक बार देखा है, लेकिन मैं निर्णय नहीं कर पाता कि विदा लेती उनकी दृष्टि में किसके चित्र साथ जा रहे हैं। एकाएक मुझे लौटने की हड़बड़ी हो जाती है।···शहर अशांत है और शाम गहरी होती जा रही है।

(रविवार, 4 दिसम्बर '83)

दबी हुई उंगली का दर्द

कमरे में लेटे-लेटे वह दिन के बदले हुए मिजाज पर सोचता रहा। वैसे दोपहर के आसपास का समय रहा होगा लेकिन सूरज लापता था। धुंध सी छाई हुई थी चारो तरफ। हल्की ठंडक थी जो गर्मियो के इस मौसम में दृष्टि-भ्रम उत्पन्न करती थी। लगता था बैसाख जेठ का यह दिन पीछे खिसक कर माघ-फागुन के आसपास आ गया है। बारिस बिलकुल नहीं हुई थी एक बूंद भी नहीं बस बादलों की घनी छांह थी और मौसम के स्वभाव के विपरीत सुखद ठंड थी मेघ कहीं दूर बस रहे थे शायद। दूरागत हवा का मीठा स्पर्श ऐसा लगता था जैसे गर्मियों में किसी अनजान युवती की नंगी बांह शरीर को छू रही हो।

ऐसा दिन बड़ा बोझिल होता है बोझिल उदास और अकेला। किसी काम में जी नहीं लगता। जिसके पास अपना परिवार होता है या किसी तरह की व्यस्तता रहती है वह तो मजे से काट लेता है ऐसे समय को लेकर रघ्घू जैसे आदमी के लिए ऐसा समय किसी काम का नहीं है ऊब से भरा ऐसा समय बस आराम से लेटे रहने और अनाप-शनाप सोचते रहने के लिए है।

बड़े भइया अपने कमरे में भाभी के साथ ताश खेल रहे हैं। सिर्फ दो आदमी जाने कैसे ताश खेल रहे हैं। आज कोर्ट बन्द है उनका। रविवार है। कभी-कभी भाभी और भइया की बातचीत और हंसी की खनखनाहट

इस बाहरी कमरे मे भी आ जाती है। बड़ी भाभी की हंसी रघ्घू को बड़ी विचित्र लगती है। सो कर उठने के बाद बड़ी भाभी बाहें उठाकर अंगड़ाई लेती हैं तो उनकी चूड़ियां ठीक इस हंसी की तरह बजती हैं।

बड़े भइया भाभी से बात करते हैं तो आवाज एकदम मुलायम रहती है बिलकुल मखमल की तरह जो उनके तकिये के ऊपर लगा है। मगर रघ्घू से बात करते समय वही आवाज एकदम खादी वाली धोती बन जाती है भारी और रुखड़ी। बड़े भइया की यह मखमली आवाज बड़ी भाभी मां और बच्चो तक सीमित रहती है। दूसरे किसी से कुछ करेंगे तो लगेगा ही नही कि वही भइया है। बात बात पर जिरह करेंगे। लगेगा कोर्ट मे बहस कर रहे हैं। विचित्र स्वभाव है। हां, जब कोई भारी काम कराना होता है तो बहुत मुलायम हो जाते है। उसी समय मालूम होता है कि सहोदर भाई हैं। बाकी समय मे तो एकदम पुलिस अफसर की तरह बात करते हैं मां भी बड़े भाइया को समझाती नही। डरती हैं शायद। समझती है बड़े भइया नाराज हो जायेंगे तो घर की देख भाल नही करेंगे। रुपये नहीं देंगे···नही देंगे तो नही देंगे। मगर धौंस जमानेवाली यह आदत छोड़ दें। बड़ी भाभी का भी वही हाल है। पैर मे जरा भी धूल न लगे। घंटे-घंटे चाय चाहिए। कभी पूछेंगी भी नही कि रघ्घू, चाय पीजियेगा ? बस काम के समय रघ्घू की याद आती है···रघ्घू जी जरा बाजार जाइये तो।···एक दिन तो रघ्घू जानबूझकर डुबकी लगा गया था बुलाती रहें बड़ी भाभी। यहां नौकर है कोई। लेकिन मा पहुंच गई थी तुरन्त क्या है बहू ? आवाज मे मिश्री घोल कर बोली थी मां। यही मिश्री रघ्घू के पास पहुंचकर नीम की पत्ती क्यों बन जाती है यही समझ मे नही आता है।

···रे रघ्घू। जवाब नही मिला तो रघुआ पर उतर आती हैं। रेंकती रहेंगी·····रे रघुआ। रघुआ।" ठीक बड़े भइया की तरह लगता है कि कोर्ट है···रघुनाथ। हाजिर हो कितना अच्छा-सा नाम है रघुनाथ। लेकिन पुकारता है कोई इस नाम से ? सब कहते हैं रघुआ। अच्छे से नाम को

बिगाड़कर इन लोगों ने रघुआ कर दिया है। ठीक है भाई कह लो रघुआ दिन अच्छे आयेंगे तो ये ही लोग जो रघुआ कहते हैं रघुनाथ बाबू कहेंगे। कोई जरूरी नहीं है कि बी० ए०, एम० ए० करके मजिस्ट्रेट ही बना जाय। सिर्फ आई० ए० पास है रघुनाथ तो क्या हुआ। रुपये कमाने की अक्ल आनी चाहिए। फिर संयोग है। अगर पैसे वाली नौकरी मिल गयी तो ये बी० ए०, एम० ए० पानी भरेंगे।

मझले भइया जरा ठीक है। ठीक इसलिए कि वे ज्यादा काम नहीं कराते। दिन भर डूबे रहते हैं किताबों में। मझली भाभी भी थोड़ा मनहूस स्वभाव की है लेकिन किसी बात पर खिसियाती बहुत हैं बोलती हैं गुर्राती ज्यादा है। गनीमत है कि सिर्फ रघ्घू पर ही नहीं गुस्साती, मां पर भी भनभनाती है। मां सब जानती हैं लेकिन हंस कर टाल देती हैं मां ? जवाब क्यों नहीं देतीं ? डरती क्यों हैं समझ मे नहीं आता। मझले भइया सब समझते हैं जानते हैं कि मां की मझली भाभी से पटती नहीं है फिर भी कुछ बोलते नहीं हैं। ऐसा कभी नहीं हुआ कि एक बार डांट दें अपनी पत्नी को। मझली भाभी किसी भी बात पर झिड़क देती है मां को। भइया सुन लेते हैं। भीतर घुट कर रह जाते हैं शायद। लेकिन बोलते कुछ नहीं हैं रघ्घू की समझ में यही बात नहीं आती है कि ये पढ़े-लिखे लोग सही बात भी क्यों नहीं कह पाते हैं ? डरते क्यों हैं ? बस अपने आईने के सामने लाल पीले होकर रह जाते हैं बड़े भइया रोब दाब वाले आदमी हैं बड़ी भाभी भी इस मायने मे खुले मिजाज की है। जो बोलना होता है, सामने बोलती है पूरे ठसक के साथ। जिनके मन में जो आये कहे। मगर प्रोफेसर साहब की इस पत्नी की सूरत हमेशा बीमार-सी लगती है। रघ्घू को लगता है हर बीमार किस्म की औरत ऐसी ही चिड़चिडे स्वभाव की होती है।

प्रोफेसर साहब तो जैसे खुद पर ही गुस्सा करते हैं। कॉलेज मे पढ़ाते समय भी मझले भइया का ऐसा ही मूड रहता था। अंग्रेजी वाले पीरियड में पढाने आते थे तो सबसे पहले उनकी आंखें तलाश करती थीं रघ्घू है या

नहीं। रग्घू क्यों नहीं रहेगा ? दूसरे किसी क्लास में रहे, न रहे, भइया के क्लास में तो रहना ही है। भइया पढ़ाने लगते और पीछे की बेंच पर कहीं जरा भी वातचीत होती तो मझले भइया की कड़कती आवाज आती··· ह्वेयर इज मरमरिंग ? शिनाख्त नहीं हो पाती तो वे खुद डिस्टर्ब्ड होने लगते थे। असली बात का तो पता ही नहीं था उनको वे समझते ही नहीं थे कि उनकी अंग्रेजी हम लोगों की समझ में नहीं आती थी। हम लोग चाहते थे कि हिंदी मीडियम से वे अंग्रेजी पढ़ायें लेकिन उन पर तो अंग्रेजी का भूत सवार था। ठीक है झाड़ते रहिए अपना भूत। लड़के नहीं समझेंगे तो बातचीत करेंगे ही 'डू यू फोलो' करते रहिए। उस बार इसी कारण सत्तर परसेंट विद्यार्थी फेल हुए थे अंग्रेजी में। प्रिंसिपल साहब ने बुलाकर पूछा था बड़े भइया से। मजा आया था। क्या पढ़ाते थे क्लास में वे जाने। मझले भइया घर आकर बड़े भइया और बड़ी भाभी के सामने अंग्रेजी के गिरते स्तर का रोना रो रहे थे। रग्घू मन-ही-मन खुश हो रहा था। अच्छा है कम-से-काम महसूस तो कर रहे मझले भइया। अंग्रेजी तो जायेगी ही एक दिन। मझले भइया कब तक रोके रहेंगे। अगर अंग्रेजी को अंग्रेजी में ही पढ़ाते रहे तो यही दशा होगी। विद्यार्थियों की बात पहले ही मान गये होते तो यह हालत न होती विद्यार्थियों ने तो आग्रह किया था सर हिंदी में पढ़ाइए। मझले भइया अंग्रेजी में गुस्साने लगे थे ह्वाट ननसेंस ?

पता नहीं उनकी समझ में बात अब भी आई है या नहीं। रग्घू को पढ़ाई छोड़े तो दो साल हो गये। थर्ड डिविजन में आई० ए० पास किया तो कालेज ही छुड़ा दिया गया। बड़े भइया ने कहा मुसकोल है मझले भइया ने डल कहा और मां ने हामी भरते हुए कहा जनम से ही मंदबुद्धि का है आगे चांस ही नहीं दिया। एक बार भी चांस देते तो दिखा देता ग्रेजुएट बनकर। दिन रात एक कर देता पढ़ाई के पीछे। लेकिन सब एक मत हो गये पढ़ना बंद। या तो कहीं क्लर्की खोजे रग्घू या घर का काम देखे। लेकिन क्लर्की भी कहां मिलती है ? यह तो किसी से होता नहीं कि कोशिश पैरवी कर

कहीं लगवा दें या पूंजी ही दे दें कि जाओ व्यापार करो ।

बड़े भइया कोर्ट से लौटते हैं तो मां आगे पीछे करने लगती हैं बड़ी भाभी के सिर में जरा भी दर्द हो जाय तो खुद मालिश करने पहुंच जाती हैं। खुद चाय पहुंचा आती हैं। कोई पूछने वाला नहीं है कि रघ्घू भी तीसरा भाई है उसको चाय मिली या नहीं। बड़े भइया और मझले भइया के खाने में तरह-तरह की चीजें रहती हैं। रघ्घू के खाने के समय में ही सारी चीजें कम पड़ जाती हैं। आश्चर्य है कि यह सब मां की आंखों के सामने होता है। मां सब देखती हैं लेकिन कुछ कहती नहीं हैं। कहने को तो मां कहेंगी मेरे लिए तीनों बेटे बराबर हैं और झटसे उदाहरण दे देंगी चाहे यह उंगली कटे चाहे वह उंगली पीर तो बराबर होती है।" खाक बराबर होती है पीर। यह सब कहने की बात है।

उस दिन कितनी परेशानी थी सर दर्द से। एक बार भी मां बाहरी कमरे में झांकने नहीं गयीं। पूछ भर लिया दर्द "कैसा है रघ्घू?" यह नहीं हुआ कि बाजार से टैब्लेट मंगा दें या मालिश ही कर दें। मझले भइया या बड़े भइया को कुछ हो जाये तो देखो मां परेशानी सुनते ही तेल की कटोरी लेकर हाजिर भी हुईं और कहने लगी डाक्टर को खबर दे रघ्घू जरा बुला लाओ डाक्टर को। यहां साले मर जाओ कोई देखने वाला नहीं है।

कितने-कितने कपड़े हैं बड़े भइया और मझले भइया के पास अपने पास बस दो ही पैंट हैं। एक तो एकदम रद्दी हो चली है। मां सब देखती हैं लेकिन बिना बार-बार कहे नयी पैंट मिलने वाली नहीं है। कहीं बाहर जाना हो तो कह कर जाओ। पिक्चर जाना हो तो पैसे लेते समय बड़ी भाभी का भाषण सुनो और मां का उपदेश पिओ। जरा भी देर हो गयी लौटने में कि बड़े भइया सिर पर आसमान उठा लेते हैं आवारा हो गया है। कमाई-धमाई कुछ है नहीं मटरगश्ती करते-फिरते हैं आवारा छोकरों के साथ। मां उपदेश देने लगती हैं अच्छी संगति करनी चाहिए बेटे। कोई काम सोचो नौकरी ढूंढो।...

मगर रघ्घू कहां से ढूढे नौकरी ? बिना रुपये के नौकरी खरीदी जाती है आजकल ? बड़े भइया और मझले भइया को चिंता ही नही है कि तीसरा भाई भी है। पत्नी और बच्चे की खुशी के पीछे बेहाल रहते हैं।

बड़ी असमर्थता महसूस होती है रघ्घू को। यही लगता है कि उसका बेकार होना और कम पढा-लिखा होना ही सारी मुसीबतों की जड है। लेकिन किया क्या जाये। जब मां ही बेटों और बहुओं से डरती हैं तो अपनी क्या हस्ती है ? मां को तो कम-से-कम पक्ष लेना चाहिए ? कहना तो चाहिए कि रघ्घू को देखो तुम लोग ?

'''आसमान उसी तरह धुंएं जैसे मेघों से घिरा हुआ है लेकिन बारिस का एक बूद नही है। बस हल्की-हल्की ठंडक है। ऐसे अनमने समय में एक फालतू आदमी को सोने में मजा आता है। भागलपुरी चादर ओढकर लेटे रहो और सोचते रहो सोचते रहो रघ्घू अपने को ही गाली देता है तुम्हारे लिए काम ही क्या है साले ? कोई देखने वाला नही है। मा भी एक नजर से नही देखती। वह भी देखती हैं कि कमाऊ पूत कौन है।

रघ्घू आज इसी तरह लेटे रहना चाहता है दिन भर कोई न बुलाये तो अच्छा। भले छाये हुये है बादल। नही तो इस बाहरी कमरे मे इतनी उमस होती है कि सोया नही जाता। रात में ऊपर छत पर सोना पड़ता है और छत पर मच्छरों का आतंक है। अदर के दोनों कमरों मे सिलिंग फैन है। आराम से पड़ी रहती हैं दोनों भाभियां। किसी को याद भी नहीं रहता कि बाहर वाले कमरे में रघ्घू है और बिना पंखे के सो रहा है। मा कहती हैं बाहर तो खूब हवा आती है। छत पर तो खूब नीद आती होगी रघ्घू ?"

उस समय तो बहुत अपमान महसूस होता है जब आये गये लोगो के सामने मां रोना रोती हैं एक यही रघ्घू रह गया है बेकार। पढाई भी नही कर सका किसी छोटे-मोटे काम में भी लग जाता तो संतोष होता। सुनने

वाले की हमदर्दी से मन में आग लग जाती है रघ्घू के। सामने खड़े रहना मुश्किल हो जाता है। वह धीरे-से खिसक जाता है वहां से।

बड़े भइया और मझले भइया की भी यही आदत है। कोई भी रिश्तेदार आता है तो बात घूम-फिरकर रघ्घू के पास चली आती है। रघ्घू की तबीयत होती है कि भाग जाय घर से। यह घर उसके लिए नहीं है। मां को भी देख लिया। मां भी अपने कमाऊ पूत को ही चाहती है जो बेटा बेकार बैठा है वह मां की आंखों में गड़ता है।

रघ्घू के मन में कभी-कभी विद्रोह जगता है। खाना और कपड़ा देकर कौन-सा उपकार करते हैं घर के लोग? मुफ्त का खाना नहीं खाता है रघ्घू। काम करता है तो खाना, कपड़ा मिलता है। बड़े भइया या मझले भइया के लिए बाजार से झोले में सब्जी ले आना भी प्रतिष्ठा पर पड़ता है शर्म आती है। इसलिये ऐसे मोटे काम हैं रघ्घू के जिम्मे। चावल ले आ बाजार से, गेहूं ले आओ, घरेलू सामान ले आओ। सब रघ्घू के जिम्मे है. प्रतिष्ठा और शर्म सिर्फ बड़े भइया मझले भइया के लिए है। रघ्घू तो नौकर है जो ज्यादा पढ़े-लिखे हैं अच्छी नौकरी में हैं प्रतिष्ठा का सवाल उनके लिए है।

मां कहती हैं, बड़े भइया कहते हैं, मझले भइया कहते हैं, दोनों भाभियां कहती हैं जरूरत हो तो पैसे मांग लिया करो। लेकिन मांगना कितना महंगा पड़ता है, यह रघ्घू ही जानता है। हर मांग तो कहने की होती नहीं। कैसे मांगा जाय? मांगने पर पचास हुज्जत। कमखर्ची का उपदेश ऊपर से भाषण सुनने के बाद मिला हुआ पैसा भीख में मिले पैसे की तरह लगता है। इससे तो अच्छा है कुछ मांगा ही न जाय। कैसे कहा जाय कि बड़े भइया ने इलेक्ट्रोनिक घड़ी खरीद लेने के बाद जो पुरानी घड़ी रघ्घू को दी थी, उसका बेल्ट टूट गया है। कैसे कहे कि नया बेल्ट चाहिये। कहेगा तो बड़े भइया या भाभी कहेंगी—'हां घड़ी तो बंधनी ही चाहिये हमेशा। रघ्घू को दफ्तर जाने में देर हो जायेगी न।" अब लो। पैसे तो

मिलेंगे लेकिन भाषण और व्यंग्य के बाद।

रघ्घू का मन तो इतना आजिज हो जाता है कि चपरासी वाली नौकरी भी कहीं मिल जाये तो कर लें। जब यही काम करना है तो वहीं करें। किसी दफ्तर मे समय से ही काम करना पड़ेगा न। यहां तो चौबीस घंटे झंझट।

मिल भी रही थी चपरासी वाली नौकरी। फूफा जी आये थे पटने से कह रहे थे कि फोर्थ ग्रेड मे कुछ बहालियां हैं उनके दफ्तर मे। वे चाहें तो एक-दो को लगा सकते हैं। उसने फूफा जी से अकेले में कहा था''''लगा दीजिये मुझे।'' बाद मे किसी अच्छी नौकरी के लिये कोशिश करूंगा।'' फूफा जी ने यह बात बडे भइया से कही थी। सुनते ही बडे भइया की त्योरी चढ़ गयी थी। "चपरासी वाली नौकरी करेगा रघ्घू? मेरा भाई चपरासी बनेगा?"

वह चुप रह गया था। और खुद को ही कोसने लगा था'''चल रघ्घू यही ठीक है। घर में चपरासी बन कर रहो, लेकिन बाहर नहीं। यहीं घिसते रहो अपना नसीब। कुर्सी तोड़ नौकरी तो मिलने से रही घर बैठे''

बादल उसी तरह घिरे हुए है, लेकिन एक भी बूंद गिरी नहीं है। भीतर-ही-भीतर जैसे गुर्रा रहा है आसमान। मां पुकार रही हैं''''रघ्घू जानता है काम भाभी को है लेकिन बुला रही है मां। जानता है रघ्घू कि काम क्या है। मां कहेगी "जरा मंटू को ले जा। दिखा लाओ डाक्टर से। खांसी ठीक नहीं हो रही है।

लेकिन रघ्घू आज जायेगा नहीं। बोलेगा ही नहीं कुछ। पड़ा रहेगा बिछावन पर। पुकार कर हार जायेगी मां। जाना है तो जायें मझले भइया। यह मौसम कहीं बाहर निकलने का नहीं है। अपने तो आराम मे बैठ कर चाय पी रहे होंगे और मझली भाभी गप्प लड़ा रही होंगी। काम करने के लिये सिर्फ रघ्घू है। रघ्घू नहीं जायेगा आज। मौसम का आनन्द है तो सबके लिए है।

लेकिन मां पुकारती-पुकारती कमरे में आ गयी—"रे रघ्घू अरे मंटू की दवा ले आ बाजार से।" उसने कुनमुना कर अपनी नाराजगी जाहिर की, लेकिन मां ने जाग दिया—"जा उठ। आलस ठीक नहीं।" उसके मन में आया कि कहे—"हां मेरे लिये ठीक नहो है, बाकी लोगों के लिये ठीक है।"

वह जबरन इस तरह उठा जैसे बंधुआ मजदूर हो। बिछावन छोड़ते हुए वह यह भी भूल गया कि अभी कुछ ही देर पहले उसने न उठने का संकल्प लिया था।

(अवकाश, सितम्बर प्रथम '84)

अव्यय अतीत

पिछले हफ्ते मामा के गांव के नौकर अजोधी दास ने किसी से खत लिखवा कर मां को सूचित कर दिया था। खत पाते ही मां अपने मायके जाने के लिए व्यग्र हो उठी थी। छोटे मामा एक-दो दिन के लिए गांव आ रहे थे। पैंतालीस-छियालीस की उम्र-सीमा पर पहुंची हुई मां की अपने मायके के प्रति यह उतावली देख कर मुझे मन-ही-मन हंसी आ रही थी। मामा ने कोई चिट्ठी-पत्री नहीं लिखी थी मां को। यदि मामा अपने गांव आ रहे हैं तो क्या अपनी छोटी बहन से मिलने यहां तक नहीं आ सकते थे?

छोटे मामा को मैंने सिर्फ दो बार देखा था और दोनों ही बार शोक के अवसरों पर देखा था। आठ-नौ साल पहले नानी के देहांत पर उनको पहली बार देखा था, जब वे क्रिया-कर्म के लिए गांव आए हुए थे। दूसरी बार भी ऐसे ही अवसर पर उनको देखा—कोई चार साल पहले। इस बार छोटे मामा के साथ बड़े मामा भी आये थे। मां मुझको और बड़े भैया को साथ लेकर पहुंची थी। आठ-दस दिनों की उस अवधि में मुझे बड़े मामा या छोटे मामा से कोई निकटता या आत्मीयता महसूस नहीं हुई। दोनों मामियों में से कोई भी नहीं आयी थी। चूंकि मामा के घर में औरत के नाम पर निकटतम सम्बन्ध की सिर्फ मां थी, इसलिए स्वाभाविक था कि मां की पूछ-ताछ खूब हो रही थी। मां हम दोनों भाइयों को यह दिखाने

की भरसक कोशिश करती थीं कि दोनों मामा मो को [illegible] । बात
बिबात मां छोटे या बड़े मामा से कोई सलाह-मशविरा करने लगती थीं,
लेकिन मैं देखता कि छोटे मामा मां की बातों पर कोई विशेष ध्यान नहीं
रहे हैं। वे सिर्फ हूं-हां करते थे और किसी दूसरी तरफ देखते रहते थे। बड़े
मामा को मां अतिशय स्नेह से 'बड़का भैया' कहती थी। लेकिन मां के
बड़का भैया मां की बातों पर उसी तरह ध्यान देते थे जैसे कोई बड़ा अफसर
अपने चैम्बर में किसी मामूली आदमी की शिकायत सुनता है।

इसके पहले मां बड़े गर्व से अपने दोनों भाइयों की चर्चा करती थी
बड़े मामा कुछ वर्ष अमरीका में रह आये थे। उसके बाद से बंगलोर
किसी प्राइवेट कंपनी में ऊंचे पद पर काम कर रहे थे। बड़े मामा की
लड़कियों की शादी बंगलोर से ही हुई थी। रस्मी तौर पर दोनों ही बा
शादी के निमंत्रण-पत्र बाबूजी के पते पर मां के पास आये थे। अलग से को
आग्रह नहीं किया गया था। दो साल पहले बड़े मामा की छोटी लड़की
अरुणिमा के विवाह का निमंत्रण-पत्र तो विवाह के कोई सप्ताह भर बा
पहुंचा था। मां का सारा उत्साह ठंडा पड़ गया था। इसके पहले मां मुझ
और बड़े भैया से कहती रहती थीं, "देखना, अरुणिमा की शादी में बड़
भैया जरूर बुलायेंगे बंगलोर। तैयार रहना तुम दोनों भाई चलने
लिये।"

अरुणिमा की शादी के कोई सप्ताह भर बाद जब विवाह का निमंत्रण
पत्र खुले लिफाफे में मिला था तो मैंने व्यंग्य से मुस्कुराते हुए मां के हाथ
लिफाफा थमा दिया था। मां-पराजित और गमगीन मेरे चेहरे की तरफ
देखने लगी थी।

लेकिन मोह-भंग की यह स्थिति अधिक दिनों तक टिक नहीं पायी।
बड़े मामा के बाद मां अब छोटे मामा की प्रशंसा करने लगी थीं। छो
मामा बंबई में कोई उच्चपदस्थ सरकारी अधिकारी थे। मां छोटे मामा
पास बंबई कभी गयी नहीं थीं। मां को इतना ही मालूम था कि समुद्र

किनारे छोटे मामा को बड़ा-सा फ्लैट मिला हुआ है। अपनी गाड़ी है और घर में ऐसी-ऐसी चीजें हैं जिन्हें यहां के धनी से धनी लोगों ने देखा तक नहीं हैं। मामी किसी कॉलेज में अंग्रेजी की प्रोफेसर हैं और देखने में एकदम मेम की तरह लगती हैं। अपने दोनों भाइयों की चर्चा करते वक्त मां इतनी उत्फुल्ल हो जाती थी मानो सब कुछ मां का अपना हो। मेरे बड़े भैया जो दो साल से बी. एस-सी. करके बैठे हुए थे, मां से अक्सर सुनते रहते थे, "मैं कहती हूं, एक बार हो आओ बंबई से। तुम्हारे मामा हैं वहां। मैं पत्र लिख दूंगी। किसी अच्छे काम पर लगा ही देंगे।" यही बात मां बाबूजी से भी कहती रहती थी। मां के बहुत कहने पर बड़े भैया बबई गये थे एक बार। छोटे मामा ने मां का पत्र पढ़ा था और जेब में रख लिया था। दस-बारह दिनों बाद महानगरी बंबई देख कर बड़े भैया लौट आये थे। उनको जवाब मिला था कि नौकरी उनके पास रखी हुई नहीं है। कोई जोगाड़ लगने पर वे सूचना देंगे। छोटे मामा से मां का मोह-भंग फिर भी नहीं हुआ था। कहती थी कि देख लेना, छोटका भैया जरूर बुलायेंगे।

मां को इस बात का अतिरिक्त गर्व था कि दो भाइयों के बाद वह अकेली छोटी बहन है और छोटी बहन भाइयों को बेहद प्यारी होती है। बार-बार की अवहेलना के बावजूद मां का यह सम्मोहन कम नहीं होता था। मैंने एक विचित्र बात देखी थी मां में। पहले तो वह अपने दोनों भाइयों को गौरव-मंडित करती थी। फिर अपनी आर्थिक और सामाजिक स्थिति से जब कुछ हीनता महसूस होने लगती थी तो अपने बचपन के प्रसंगों में चली जाती थी। विस्तार से बताने लगती थी कि तीनों भाई-बहन में कितना प्रगाढ़ स्नेह था। बचपन में होने वाले आपसी झगड़ों के विषय में या बड़ी-सी पलग पर जगह को लेकर दोनों भाइयों के साथ छीना-झपटी की बातें बताते समय मां एकदम बच्ची-जैसी बन जाती थी। आंखों में जाने कहां की चमक उभर आती थी।...

रेलगाड़ी में अपने मायके जाती मां की आंखों में मैंने फिर वही चमक

देखी। चेहरे पर और ललाट पर उम्र की खड़िया से खिंची रेखाएं कुछ धुंधली जान पड़ती थीं। मरी हुई नदी बरसात के महीनों में जैसे एकाएक जी उठती है, मां कुछ वैसी ही लगी थी। मां का स्वभाव वाचाल नहीं कहा जा सकता। वह अक्सर बेहद घरेलू और काम-काजी बातें किया करती हैं, लेकिन रेलगाड़ी पर अपने मायके जाती मां अपने स्वभाव की सीमाएं तोड़ कर बेमतलब बोलती जा रही थी। यह जानते हुए भी कि मैं अबोध नहीं हूं, बी०ए० में पढ़ता हूं, मुझे मेरी उम्र से छोटा समझ कर मां रेल-यात्रा का व्यावहारिक विधान समझा रही थी।

पूरे दस घंटे की रेल-यात्रा। सवेरे छः बजे रेलगाड़ी पर सवार होकर चार बजे शाम में मैं मां के साथ उस छोटे-से स्टेशन पर उतरा। रेलवे स्टेशन लगभग वैसा ही था जैसा कुछ वर्ष पहले देखा था। लैंपपोस्ट का बेकार हो गया खंभा थोड़ा झुक गया था। शीशे नहीं थे लैंपपोस्ट में। उसकी ठीक बगल से बिजली के तार शून्य में पतली रेखाओं की तरह खिंचे चले गये थे। प्लेटफार्म के छोर पर स्टेशन का नाम सीमापुर ताजे लिखावट की वजह से उस धूमिल परिवेश में कुछ इस तरह चमक रहा था जैसे किसी गरीब देहाती औरत ने मेला जाते समय बड़ी-सी लाल बिंदी लगा ली हो ललाट पर। प्लेटफार्म के बाहर गुलमोहर का बूढ़ा पेड़ लाल-लाल फूलों का पहाड़-सा उठाये झुका हुआ खड़ा था। उसकी छांह में तीन-चार रिक्शे और उतनी ही संख्या के मरियल घोड़े वाले तांगे खड़े थे। रिक्शे और तांगे वाले हांक लगा रहे थे—"मधुरा......मक्कापुर...सीमापुर हाट।......

स्टेशन के बाहर एक हलवाई की दूकान से मां मिठाई खरीदने गयी। मैं समझ नहीं पा रहा था कि मिठाई किसके लिए खरीदी जा रही है। छोटे मामा तो अकेले आये होंगे। वे क्या यही गंदी और भिनकती मक्खियों वाली मिठाई खायेंगे ? मां की मूढ़ता पर मुझे हंसी आ रही थी। अपने भाई से मिलने मां इतनी दूर आ सकती हैं। अगर छोटे मामा का अपनी बहन से

इतना ही स्नेह था तो क्या वे अपनी लंबी यात्रा में पांच-छह स्टेशन जोड़ कर अपनी बहन से मिलने नहीं आ सकते थे। मामा की और मां की सामाजिक और आर्थिक स्थिति की तुलना करते हुए मैं सहज ही इस निष्कर्ष पर आ गया था कि मामा-जैसे उच्चपदस्थ अधिकारी और महानगरवासी के लिए हाई स्कूल के एक हेडमास्टर से रिश्ता कोई महत्त्व नहीं रखता है। सम्बन्धों में ताजगी भी वहीं देखी जाती है जहां आर्थिक और सामाजिक हैसियत की थोड़ी भी समानता रहती है।

एक लाल गमछे में मां ने लड्डू बांधे। पैसे देते वक्त हलवाई की दूकान के उस दुबले-पतले लड़के से मां पूछने लगी, "हरिहर साव की दूकान यही है न बउआ?" लड़का कड़ाही में गर्म होते डालडे में बुंदिया का एक छींटा देकर परीक्षा कर रहा था। मैंने देखा, बेसन की बुंदिया का वह छींटा पल भर में जल गया था। लड़के ने मां की बात पर ध्यान नहीं दिया। अपना सवाल मां ने फिर दोहराया तो लड़का अकचका कर देखने लगा। मां ने शायद अपने को उपेक्षित महसूस किया। दूकान से निकलते समय आत्मतोष के लिए या झेंप मिटाने के लिए मुझसे कहने लगी, "नहीं जानता था यह लड़का। मगर हरिहर साव की दूकान यही है। मैं छोटी थी तब। हरिहर साव की यह दूकान खूब चलती थी।"

एक रिक्शे वाले से मां बात करने लगी, "फूल बाबू की हवेली चलोगे?" मैंने देखा रिक्शे वाला मां का मुंह ताक रहा है, "कौन फूल बाबू?" रिक्शे वाला उसी अंदाज में मां की तरफ देख रहा था जिस अंदाज में थोड़ी ही देर पहले हलवाई की दूकान में उस लड़के ने देखा था। मां जैसे घबरा गई थी, "अरे फूल बाबू की हवेली! मक्कापुर चौक! कोलाघाट!" रिक्शे वाला मक्कापुर चौक तक जाने के लिए राजी था, लेकिन किसी फूल बाबू की हवेली को नहीं जानता था। मैं फिर मन-ही-मन हंसा। मां भी खूब हैं। फूल बाबू की हवेली! मेरे नाना की हवेली। जैसे किसी राजे-महाराज का महल हो। मुझे वह हवेली याद हो आई जिसको

कुछ वर्ष पहले देखा था। ईंट की दीवारों पर टीन की छत और उसके ऊपर टाली खपरैल का लिहाफ। ढहती हुई चारदीवारी। दरवाजे पर टेढ़ा हो गया कच्चा कुआं। सुपारी-नारियल के कुछ पेड़। यही है फूल बाबू की हवेली। उसी गांव में किसी यादव का दुमंजिला पक्के का मकान सिर्फ 'घर' कहलाता है और टीन पर खपरैल वाला घर हवेली हो गया। बाबू साहब का घर है न! हवेली कहलाता है।

रिक्शे वाले से मैंने बात की। दो रुपये में मक्कापुर चौक तक जाने के लिए वह तैयार हो गया। मां रिक्शे वाले से कहने लगीं, "नहीं जानते हो फूल बाबू की हवेली? अरे, मक्कापुर चौक से एकदम सटी हुई ही है।" मैंने सुना। सोचा, एक किलोमीटर की दूरी मां एकदम से पचा गई है।

पीच रोड की दोनों तरफ धूसर-वीरान खेतों का अंतहीन दायरा था। खजूर और ताड़ के इक्के-दुक्के पेड़ अकेलेपन के किसी अभिशाप से ग्रस्त खुद में जलावतनी का एहसास करा रहे थे। शाम से पहले सूरज की बुझती हुई आग धूल में सन कर धुआं-सी रही थी। सूरज आधा बांस ऊपर था जब रिक्शा नदी के पुल पर पहुंचा। रिक्शे वाला अपनी तरफ से कुछ कहता इसके पहले ही मां उत्फुल्ल होती हुई बोली, "आ गया कोलासी घाट मक्कापुर चौक!···वह रहा शिव मंदिर।"—मंदिर नहीं,···टूटे हुए मंदिर का अवशेष।···मां के मन्दिर शब्द पर गौर करते हुए मैंने सोचा। कोलासी घाट पर रिक्शे वाले ने रिक्शा रोक दिया। पक्की सड़क यहां थोड़ी देर विलम कर उधर उत्तर की तरफ मुड़ जाती है। सड़क के मुहाने के कुछ दूर बाद से मामा की हवेली दिखने लगती है।

बिल्कुल देहातिनों की तरह मां ने माथे पर गट्ठर रख लिया था। एटैची मैं हाथ में लटकाये हुए था। मां के पैरों में जाने कब की छिपी हुई चपलता उभर आई थी। निर्देशिका की तरह वह आगे-आगे इस तरह चल रही थी जैसे गांव की हर मेड़ मां के पैरों की पहचानी हुई हो। थोड़ी दूर आगे वह खंडहरनुमा शिव-मंदिर मिला। गर्मियों के दिन का दीर्घजीवी

सूरज अभी डूबा नहीं था। मां मंदिर के पास जाकर रुक गई। गुंबद नहीं होने के कारण मंदिर सिरकटा-सा लगता था। मंदिर के दरवाजे के पास मां ने घुटने टेक कर मंदिर को या धरती माता को सिर नवाया। कुछ क्षणों तक जाने क्या बुदबुदाती रही। थोड़ी-सी मिट्टी चुटकी में लेकर मां ने मेरे ललाट पर लगा दी। गोधूलि बेला के क्षीण प्रकाश में मैंने मां के चेहरे को देखा। मां एक क्षण के लिए एकदम अपरिचित-सी प्रतीत हुई। अपरिचित, चपल और माटी के अनुराग में भरी-भरी—डबडबाई आंखों वाली मां।

उस खंडहरनुमा मंदिर के जाने किस मलबे से बूढ़े पंडितजी निकल आये—रहस्य-रोमांच के किसी कथा-पात्र की तरह। सामने खड़े थोड़ी देर तक पहचानने की कोशिश करते रहे। मां ने पंडितजी के पैर छुये और मुझे भी वैसा ही करने का इशारा किया। पंडितजी की रीढ़ एकदम झुकी हुई थी और एक हद तक वे चौपाये की तरह चल कर अंदर से आये थे। छोटे-छोटे सफेद केश। उम्र का आखिरी हेमंत पंडितजी की विरूप आकृति को कुछ-कुछ डरावना बना रहा था। पंडितजी मां को पहचान नहीं पाये। आखिर मां ने अपना नाम बताया, "नहीं पहचाना ? बुच्ची दाय···फूल बाबू की बेटी।······पुरैनियां वाली।···" झुके चेहरे के कारण मैं पंडितजी की मुस्कुराहट देख नहीं पाया। सिर की कंपकंपी में हास के आंसू छिपे हुए थे शायद। आंधी की सायं-सायं जैसी आवाज में वे कह रहे थे, "अब नहीं सूझता है बेटी। चल-फिर भी नहीं पाता। मंदिर की हालत देख ही रही हो। कोई मरम्मत कराने को तैयार नहीं। वह तो थोड़ी-सी जमीन है मंदिर की, इसलिए खा-पी लेता हूं किसी तरह। गांव अब वह नहीं रहा बुच्ची दाय। तीन-चार वर्ष से रोज ही मार-दंगा। केस-मुकदमा। अभी हाल ही में रजपुताही और सोलकन टोले में मार-पीट हुई। रजपुताही का एक आदमी मारा गया। उधर यादव-कुरमी-धानुक भी घायल हुए। कुछ लोग अभी तक अस्पताल में पड़े हुए हैं। पुलिस-मजिस्ट्रेट का अड्डा बना हुआ था

गांव। अभी तक पुलिस की जीप आती रहती है।…"

पंडितजी की भीगी और भर्रायी आवाज से लगा, वे रो रहे हैं। उनका इस तरह रोना कई दशाब्दियों पहले की बुच्ची दाय से मुलाकात होने के कारण था या नष्टप्राय मंदिर के क्लेश के कारण या गांव की दुर्दशा के कारण—यह मैं समझ नहीं पाया। फिर सोचा, मृत्यु के कगार पर पहुंची उम्र में आंखें बरसाती बादलों की तरह यों ही बरसने लगती हैं।

सूरज छिप गया था, लेकिन उजास अभी अंधेरे में पूरी तरह विलीन नहीं हो पायी थी। मंदिर के आगे कच्चे रास्ते पर टोले का एक आदमी मिल गया था। मां उस बीस-बाईस वर्षीय युवक को पहचानती तो नहीं थी, लेकिन उसके बाप को जानती थी। नाम मुझे याद नहीं है। इतना ही याद है कि उस युवक ने अपने नाम के आगे मंडल लगाया था। उस युवक से मां खोद-खोदकर गांव का हाल-चाल पूछ रही थी। मरियल-सा वह युवक मजदूर वर्ग का मालूम होता था। पहले वह खुलता नहीं था, लेकिन मां से परिचय हो जाने के कारण खुला तो खुलता ही गया। गांव के दहशत भरे माहौल के विषय में उसने जो कुछ बताया उसका सारांश यह था कि गांव में दुर्भावनाओं का जहर फैला हुआ है। अगड़ी और पिछड़ली जातियों के जो पढ़े-लिखे लड़के हैं उन्होंने ही इस जहर को ज्यादा फैलाया है। कुछ वर्ष पहले नौकरियों में आरक्षण के सवाल को लेकर यह गांव दो भागों में साफ-साफ बंट गया था। मार-पीट होती रही। कुछ दिनों बाद राजपूत टोले के लोगों ने एक यादव लड़के की हत्या कर दी।

हाल में यादवों ने इसका बदला लिया। एक राजपूत लड़के को अकेले में पकड़कर जान से मार दिया और लाश को नदी में बहा दिया। उसके बाद तो राजपूतों और छोटी जातियों में रोज ही मार-पीट होने लगी। गांव में पुलिस-चौकी कायम कर दी गयी। अभी भी कुछ लोग अस्पताल मे हैं और कुछ लोग जेल में। दोनों पक्षों से केस-मुकदमे चल रहे हैं।

गांव अघात है।···पगडंडी पर अलग होते-होते उस युवक ने सलाह दी कि ऐसे गांव में जाना ठीक नहीं है।

बिलकुल एक सीध में तीन टोलों को पार कर जो टोला मिला उसका पहला घर मां के मायके का वह घर था जिसको मां बड़े गर्व से फूल बाबू की हवेली कहती हैं। मैं यहां दो बार पहले भी आ चुका था। पिछली बार इस हवेली को देखा था तो लगा था, एक मिटता हुआ-सा आकार शेष है, लेकिन इस बार नौवीं या दसवीं की चांदनी रात में उस हवेली को देखा तो लगा, जैसे कोई पुराना झंखाड़ पेड़ हो यह हवेली। भांय-भांय करते सन्नाटे में मां के साथ हवेली के सामने खड़ा था। मां बार-बार अजोधीदास को पुकार रही थीं। कहीं कोई प्रत्युत्तर नहीं था। थोड़ी देर बाद एक बूढ़ा आदमी हाथ में पुरानी-सी बुझती लालटेन लिए अंदर आंगन की तरफ से निकला। मां को बेसाख्ता पहचानता हुआ बोला, "अरे! बुच्ची दाय!"···उसकी आवाज भीतरी आह्लाद की हंसी में विलुप्त हो गयी। फिर वह सहसा बुदबुदाया, "मुदा देर हो गयी आने में। छोटका मालिक आज ही चले गये।" मां अचानक उदास हो गयीं, "आये, आज ही चले गये छोटका भैया?" मां को विस्मित-विमूढ़ देख कर मुझे चिढ़ से भरी हुई खुशी हुई। मां को अपने छोटका भैया से इतना नेह-छोह है। दिन-रात प्रशंसा की माला जपती रहती हैं और भाई हैं कि एक दिन अपनी सगी बहन के लिए रुक नहीं सके।

उस भग्न हवेली के जिस कमरे में अजोधीदास ने हम दोनों के सोने का इंतजाम किया था, वह कमरा असुरक्षा का भय उत्पन्न कर रहा था। किवाड़ का एक पल्ला अलग से उढ़काकर पूरे किवाड़ की शक्ल बनायी गयी थी। लालटेन की मरियल-सी रोशनी में कमरा भयानक प्रतीत हो रहा था। मैं चाह रहा था कि लालटेन हटा दी जाए। कभी-कभी अपर्याप्त रोशनी से भय बढ़ जाता है।

अजोधीदास की गतिविधियों से मुझे आभास हो गया था कि

हमारी खातिरदारी के लिए सही ढंग का कुछ भी नहीं है हवेली में। घंटे भर कहीं बाहर रहा अजोधीदास। शायद हमारे भोजन के इंतजाम में लगा हुआ था। इस बीच मैं दरवाजे के बाहर कुएं के पास आ गया था और तजवीज कर रहा था कि जो हवेली कुछ वर्ष पहिले मैं देखकर गया था वह कितनी बदली है। गर्मियों की धूमिल-सी चांदनी में सारा माहौल बड़ा उदास और गमगीन लग रहा था। अहाते के बाहर पक्के कुएं का गोलाकार ऊपरी भाग टेढ़ा होकर थोड़ा झुक गया था। कुएं की जगत टूटी हुई थी और वहां छोटे-छोटे जंगली पौधे उग आये थे। नारियल के कुछ पेड़ तो सही-सलामत थे, लेकिन सुपारी के सिर-कटे पत्र-हीन पेड़ खूटे की तरह गड़े मालूम होते थे।

खाना खा लेने के बाद अजोधीदास बताने लगा कि मेरे छोटे मामा सब बेंच-बाचकर हमेशा के लिए यहां से चले गये हैं। दरवाजे के बाहर ठूंठ सुपारी के पेड़ को मैंने फिर देखा। इस बार मुंड कटा पेड़ किसी वाक्य पर अंतिम पूर्ण विराम की तरह प्रतीत हुआ। अजोधीदास ने बताया कि पिछली बार बड़े मामा आये थे। उन्होंने अपने हिस्से की जमीन-जायदाद बेच दी। सुनकर मां एकदम चुप हो गयी थी। उनके मायके में अपना कहने के लिए कुछ भी नहीं बचा था। बूढ़ा अजोधीदास कमरे की चौखट के पास बैठा था। बहुत देर की चुप्पी के बाद मां ने पूछा था, "तुम्हारे लिए तो भैया ने कुछ छोड़ा होगा?" अजोधीदास निरुत्तर था। धरती में सिर गड़ाये चौखट को उंगलियों से खुरचता हुआ बहुत धीरे से वह बोला, "नहीं, कुछ नहीं।···" मां आत्मालाप-सी करने लगी, "बाबूजी बोलकर मरे थे कि दो एकड़ जमीन अजोधीदास को गुजर-बसर के लिए दे देना। वासगीत भी लिख देना।" नहीं दी जमीन किसी ने। बेचारा जीवन भर हवेली की सेवा करता रहा। बड़का भैया छोटका भैया और मैं सब इसकी गोद में खेले हैं। बूढ़ा हो गया सेवा करते-करते। इतना ईमानदार आदमी ······ किसी ने कुछ नहीं

दिया।......"

अपने मायके के लिए मां का सारा उत्साह ठंडा पड गया था। रात भर प्रवासी और बेजमीन होने की कुंठा से ग्रस्त मां जागती रही थी। नींद मुझे भी नहीं आयी थी। रात भर चमगादडों के फड़फड़ाने और बाहर पेडों पर बादुर पक्षी के वजनदार डैनों की आवाजें सुनाई पडती रहीं। सबेरे जब आखें लगने को हुई तो पिछवाडे के बगीचे से कोयल की मीठी आवाज आ रही थी।

कमरे के बाहर आया तो देखा, गांव के कुछ लोग खड़े हैं। दो बूढ़ी औरतें ड्योढ़ी पर खड़ी थीं। उधर कुएं की जगत पर तीन-चार आदमी थे जो अपनी आकृति से किसान या खेतिहर मजदूर प्रतीत होते थे। मां कमरे के बाहर निकलीं। मैंने देखा, दोनों औरतों से बारी-बारी मां गले मिल रही हैं। फिर मां को और दोनों औरतों को आंचल से आखें पोंछते हुए देखा। उन भावाकुल क्षणों से मैं बिल्कुल उदासीन था और सिर-कटे सुपारी के पेड पर चढ रहे सूरज को देख रहा था। दरवाजे पर आकर मां उन दोनों बूढों के पैर छूने लगी। अजोधीदास ने मुस्कराते हुए मुझे बताया कि उन दो बूढों में से एक लखन-केवट है। मल्लाह है। मां जब छोटी थी और नदी पार के अपर स्कूल मे पढने जाया करती थी, तो यही लखन केवट नाव से पार करता था। जो बूढा लाठी टेकता हुआ चलता था उसके विषय में अजोधीदास ने बताया कि वह चतुरी गोप है। दोनों औरतों में से एक जो सन की तरह फरफराते उजले केशों वाली बुढ़िया थी वह लुखिया चमाइन थी। अजोधीदास ने हंसते हुए मेरे कान में कहा, "तुम नहीं जानते होगे बबुआ, तुम्हारी नानी को जब दूध नहीं उतर रहा था तो तुम्हारी मां को बरही के पहले इसी चमाइन ने अपना दूध पिलाया था। दूसरी बुढ़िया के विषय में मालूम हुआ कि वह गांव की नाइन है।

अजोधीदास सबेरे-सबेरे गांव में मां के आगमन की खबर बांट आया

था। गांव की बड़ी-बूढ़ी औरतें, अधेड़-बूढ़े लोग मां से मिलने आ रहे थे। मुझे आश्चर्य और दुख हो रहा था कि मेरे मामा के गोतिया-दियाद सब हैं बगल में। अच्छे खाते-पीते और धनी लोग हैं सब के सब। लेकिन अभी तक कोई भी मां से मिलने नहीं आया था। मां अपने जिस 'छोटका-भैया' से मिलने इतनी दूर से आयी थीं वे एक दिन रुक नहीं सके। आपसी स्नेह और अतीत के लगाव का ढिंढोरा पीटने वाली मां की घोषणाओं की निस्सारता पर सोचकर मुझे हंसी आ रही थी।

अजोधीदास से मालूम हुआ कि मेरे चचेरे मामा वगैरह इस बात के लिए खार खाये बैठे हैं कि छोटे मामा और बड़े मामा ने उनके हाथ जमीन-जायदाद क्यों नहीं बेची। दुश्मनों के हाथ जमीन और हवेली बेचकर उनको बेइज्जत क्यों किया गया?

दिन चढ़ते-चढ़ते दरवाजे पर बहुत लोग एकत्र हो गये थे। मैंने गौर किया, तमाम औरतें, मर्द और बच्चे सब निचले तबके के लोग थे। सब मां को अपने घर ले जाने की जिद कर रहे थे। मां उन औरतों में किसी को भौजी, किसी को काकी, किसी को दीदी, किसी को बुआ आदि रिश्तों से संबोधित कर रही थी। कोई भी औरत या मर्द बिना रिश्ते का नहीं था। मुझे आश्चर्य हो रहा था—बूढ़े झंखाड़ पेड़ों जैसे इन गंवार लोगों के बीच मां अभी तक इतनी प्रिय कैसे बनी हुई हैं। गांव की भयावह राजनीति के विषय में जो कुछ सुना था उसके साथ मां को समर्पित इस स्नेह और सम्मान की संगति नहीं बैठ पा रही थी।

मां को अपने-अपने घर ले जाने की जिद में आखिर चतुरी गोप की विजय हुई। चतुरी गोप के घर में मैं मां के साथ दो दिन रहा। चतुरी साधारण किसान था। दरवाजे पर गाएं और भैंसें थीं। उन दो दिनों में मां ने और मैंने जितना दूध-दही खाया, मुझे याद नहीं कि कभी इतने कम समय में इतना दूध-दही खाया हो। बड़े-से बटटे में मलाई वाला दूध जब मैं पी रहा होता तो देखता, मां गर्व से मुस्कराती हुई मेरी ओर देख

रही हैं। आंखो ही आंखो में मा शायद पूछ रही होती थी—इतना दूध मिला कभी पीने को ?······सुबह-दोपहर-शाम लोग मा से मिलने आते रहते थे। पिछले समय की जाने कितनी सारी बातों और घटनाओ की आज के दूषित परिवेश के प्रसंग मे याद की जाती थी। गांव के वे लोग जो दुनिया से चले गये, वे लोग जो किसी तरह जी रहे हैं, सब बातो के सिलसिले में आया करते थे। बीच-बीच मे मेरी ओर देखकर मां मुझसे कहने लगती कि उस जमाने मे किसी तरह पूरा गांव ही घर जैसा था। मैं मन-ही-मन कहता—आज भी क्या फर्क पड़ा है मां ! मामा की हवेली बिक जाने के बाद भी तुम्हारा मायके पहले की तरह सुरक्षित है। हां, जिनसे तुम मिलने आयी, बंबई वाले तुम्हारे वे 'छोटका भैया' एक दिन तुम्हारे लिए रुक नही सके। ··

पाचवां दिन था और लौटने की जिद के बावजूद मां को इजाजत नही मिल रही थी। इस बीच मां के साथ मैं भी कुछ घरो में जा-जाकर खाना खा आया था। फिर भी कई लोगो के निमंत्रण पड़े हुए थे। मा ने घर की समस्याओं का रोना रोया तब जाकर छठे दिन चतुरी गोप से आज्ञा मिली।

विदा के समय चतुरी गोप के आंगन-दरवाजे पर भीड़ लग गई थी। संख्या बूढ़े और बुढियों की ज्यादा थी। मामा के चचेरे भाइयों का संपन्न टोला बगल में ही था, लेकिन उधर से कोई झांकने तक नही आया था। अजोधीदास से मालूम हुआ, आज ही मामा के चचेरे भाई जयपाल बाबू की बेटी मालती का द्विरागमन है। मा सिर उठाकर मालती नाम की लड़की को अपनी स्मृति मे तलाशने लगी। अजोधीदास ने मुस्कराते हुए कहा, "मालती को तुम नही जानती होगी बुच्ची दाय। पटने में रहकर पढी-लिखी है। साल-छमाही कभी आती थी यहां। हम लोगों को क्या मतलब ! आती थी तो बस घर मे ही बंद रहती थी। किसी से मिलती-जुलती भी नही थी। कहती थी वक्स देहात है यह।···"

मां मुझसे कहने लगीं, सुनते ही—छोटू, जयपाल-बाबू की बेटी का द्विरागमन है आज। मैं यहीं हूं। कोई बुलाने नहीं आया...'' अजोधीदास ने बताया कि जयपाल बाबू कहते हैं, बुच्ची दोय हमारे दुश्मनों के घर मेहमान बनी हुई है। हम क्यों पूछने जायें?

गंदे-फटे कपड़े पहने मैली-कुचैली बूढ़ी औरतों, कुछ 'कनिया-बहुरिया' लड़के-लड़कियों और किसान-मजदूर तबके के कुछ अधेड़-बूढ़े लोगों से घिरी मां जिस समय कच्चे रास्ते पर आयी, गर्मियों का सूरज ललाट तक चढ़ आया था। एक काफिला-सा था मा के साथ। रास्ते पर थोड़ी ही दूर आगे बढ़ा था वह काफिला। मामा के टोले की तरफ से एक जीप आयी और पूरी भीड़ पर धूल झोंकती हुई निकल गई। मालूम हुआ, जीप पर मालती थी। पहली विदाई में ससुराल जा रही है। दुल्हा लखनऊ में इंजीनियर है। ''

दुल्हा इंजीनियर है चाहे कुछ है, लेकिन मा को विदा करने आयी उस भीड़ के आमने-सामने इसी गांव की मालती नाम की लड़की की वह पहली विदाई धन और प्रतिष्ठा के प्रदर्शन के बावजूद मुझे एकदम फीकी और पराई मालूम हुई। मुझे लगा जैसे शहर की ओर से आकर शहर की ओर जाने वाली इस जीप के लिए यह गांव सर्वथा अपरिचित था। अपने शरीर पर पड़ी धूल को झाड़ते हुए मैंने आगे देखा। गांव की कच्ची सड़क पर धूल उड़ाती भागने वाली जीप धूल में ही अदृश्य हो गई थी।

मां को विदा करने आयी औरतें रो रही थी। मां भी रो रही थीं। अपनी रुलाई रोकने की कोशिश में असफल मेरी भी आंखें डबडबा आयी। मा के मायके से मेरा कोई रागात्मक संबंध नहीं था, फिर भी विदा होने का वह समय बड़ा गमगीन और भारी हो गया था। लगता था जैसे गांव के इन लोगों के साथ मैं भी लंबे समय तक जुड़ा रहा हूं और सबको छोड़ कर जा रहा हूं। भावुकता में डूबी अपढ़-गंवार औरतों के द्वारा मां क

विदा करने का वह दृश्य तो ऐसा प्रतीत होता था जैसे गांव की बेटी पहली बार ससुराल जा रही हो।

रिक्शे पर मेरी बगल में बैठी मां बार-बार पीछे की ओर मुड़कर देखती थी। मुंह में तो जैसे आवाज ही नहीं रह गई थी मां के। वह वाचाल प्रकृति जो आते समय मां में देखी थी अब सागर में विलीन नदी बन गई थी। मैं भी चुप था। ऐसी खामोशी या तो दुख के बोझिल क्षणों में होती है या आत्मिक आह्लाद से भरे हुए क्षणों में। जब कुछ भी बोलना उस गहन स्थिति को हल्का करने की कुचेष्टा बन जाता है।

(धर्मयुग, 12 मई '85)

अपनी-अपनी जगह

रिक्शाचालकों की तीन दिन की हड़ताल खत्म हो चुकी थी। किसी अधिकारी या सत्ता-प्रतिष्ठान से रिक्शाचालकों की मांग नहीं थी, आम जनता से किराया बढ़ाने की मांग थी, इसलिए इकतरफा समझौता कर लिया गया। यानी रिक्शाचालकों ने किराया बढ़ा दिया। मैंने भी सोचा कि ठीक ही है। महंगाई के आधार पर जब नौकरीपेशा वाले लोग आये दिन हड़ताल कर भत्ते बढ़ा लिया करते हैं तो रिक्शाचालकों की मजदूरी भी बढ़नी ही चाहिए। ये शोषित मजदूर हैं और महंगाई बेतहाशा भाग रही है।

जिस दिन रिक्शाचालकों की हड़ताल समाप्त हुई उसी दिन अपने एक रिश्तेदार से मिलने हॉस्पिटल जाना था। मिलकर सर्जरी वार्ड से बाहर निकला तब तक शाम हो गई थी। जाड़े की शाम। पछिया हवा सिहर रही थी। मेडिसिन वार्ड के सामने से गुजरा तो पोर्टिको के आगे एक लाश के पास एक औरत को बैठे रोते देखा। थोड़ा हटकर एक आदमी भी सिर पर हाथ रखे रो रहा था। हॉस्पिटल में ऐसे कारुणिक दृश्य अक्सर दिखाई पड़ते रहते हैं। यहां तो जिंदगी और मौत का ही खेल चलता है। अक्सर मौत हारती है, लेकिन कुछ मामलों में जिंदगी ही हार जाती है।

बहरहाल, हॉस्पिटल में किसी की मौत क्षणिक करुणा के बुलबुले ही उत्पन्न कर पाती है।

लोग पोर्टिको के आगे रखी हुई लाश की बगल से आ-जा रहे थे। एक नजर उधर देखते और निकल जाते। मैं लाश के पास खड़ा हो गया था। लाश किसी बच्चे की थी। तय था कि रोने वाले स्त्री-पुरुष बच्चे के माता-पिता रहे होंगे।

उन दोनों को देखने से ही लगता था कि वे बेहद गरीब हैं। स्त्री मैली-कुचैली और अस्त-व्यस्त साड़ी पहने हुए थी। पुरुष नंगे पांव था और गंदी सी धोती लपेटे था। एक झूलता हुआ-सा फटा-पुराना खाक स्वेटर था उसके बदन पर। उम्र चालीस-पैंतालीस के आस-पास मालूम होती थी। लाश के पास ही बोरिया-बिस्तर की एक बड़ी-सी गठरी पड़ी थी।

मैं अवसन्न और उदास उस लाश के पास खड़ा रहा। स्त्री और पुरुष की गरीबी और निस्सहायता बच्चे की लाश के साथ घुल-मिलकर ऐसी कारुणिक परिस्थिति उत्पन्न कर रही थी कि मैं नजरंदाज कर आगे नहीं बढ़ पा रहा था। पुरुष से मैं कुछ पूछना चाहता था, लेकिन वह दुख में इतना डूबा और बदहवास था कि कुछ पूछने की हिम्मत नहीं हो रही थी। थोड़ी देर बाद पुरुष से पूछ-ताछ की तो मालूम हुआ कि महीने भर से ये बच्चे को लेकर अस्पताल में पड़े थे। एक तो दवा के लिए उनके पास पर्याप्त पैसे नहीं थे, दूसरे कर्मचारियों और जूनियर डॉक्टरों की हड़ताल हो गयी। पैसे वाले रोगी तो हॉस्पिटल छोड़कर प्राइवेट क्लिनिक में चले गये, लेकिन वे कहां जाते। रात पिछले पहर बच्चा मर गया।

बातचीत के सिलसिले में मालूम हुआ कि पुरुष पटने में रिक्शा चलाने का काम करता है। बच्चे की बीमारी की खबर पाकर गांव आया था। प्राइवेट में इलाज कराने का साधन नहीं था, इसलिए लोगों की सलाह पर बच्चे को हॉस्पिटल में भर्ती कराया। पैसे की व्यवस्था नहीं हो पा रही थी। इसलिए उसके गांव के ही एक रिक्शाचालक ने उपाय सुझाया। गांव का वह रिक्शाचालक कुछ दिनों के लिए शहर छोड़कर बाहर जा रहा था। उसी ने रिक्शे के मालिक से कह-सुनकर अपने एवज में इस आदमी

को लगा दिया। पुरुष अब रिक्शा चलाने लगा था। दिन भर की जो कमाई होती, उससे बच्चे की दवा वगैरह खरीदता। पचीस-तीस रुपये वह कमा लेता था। छोटे डॉक्टरों की सहानुभूति भी उसे मिल रही थी। सब ठीक-ठाक ही चल रहा था, लेकिन इसी बीच जूनियर डॉक्टरों और कर्मचारियों की हड़ताल हो गयी। फिर तीन दिन रिक्शे की हड़ताल रही। सारा काम लड़खड़ा गया। हॉस्पिटल में हड़ताल हुई तो देखभाल करने वाले जूनियर डॉक्टरों ने सलाह दी कि प्राइवेट इलाज में बच्चे को लेकर वह चला जाय। प्राइवेट इलाज का खर्च उसके बूते की बात नहीं थी। आखिर बच्चा रात पिछले पहर मर गया।

तफसील में पूरी बातें सुनने के बाद मैंने पूछा कि अब लाश को लेकर वह कहां जायेगा। पुरुष ने बताया कि वह गांव लौटना चाहता है। वहीं लाश को दफनायेगा। गांव के लिए बस मिलती है। लेकिन बस-अड्डा दूर है और शाम हो गयी है।

उस पुरुष की आंखें किसी रिक्शे पर थीं। उसके साथ-साथ मैं भी आगे सड़क पर आ गया। वह बड़ी बेसब्री से कोई रिक्शा खोज रहा था ताकि बस-अड्डे पर पहुंचकर आखिरी बस पकड़ सके। उसने कहा कि समय ही नहीं है, वरना अपने रिक्शा-मालिक से मिलकर वह खुद ही कोई रिक्शा मांग लाता। नुक्कड़ पर उसने दो-तीन रिक्शाचालकों से बात की, लेकिन कोई भी लाश को लादकर ले जाने के लिए तैयार नहीं था। वह पुरुष जो खुद रिक्शा-चालक था, रिक्शा-चालकों की खुशामद कर रहा था, लेकिन सर्दियों की शाम में कोई भी लाश को लादकर बस-अड्डे तक जाने के लिए तैयार नहीं था। शायद उसकी खुशामद से तंग आकर रिक्शा-चालक उस नुक्कड़ से धीरे-धीरे खिसकने लगे थे। एक रिक्शा-चालक को रोककर मैंने अनुनय-विनय के लहजे में समझाया—"अरे भाई, यह बेचारा तकलीफ में है। आदमी के नाते ही सही, मदद तो करो! ढाई-तीन किलोमीटर कौन-सी लंबी दूरी है! पैसे तो दे ही रहा है यह!"

लेकिन मेरा कुछ भी प्रभाव रिक्शा-चालक पर नहीं पड़ा। वह झूठ-मूठ रिक्शे का ब्रेक-टायर वगैरह टो-टा का देखने लगा। फिर बहाना बनाने लगा—"मेरा तो रिक्शा ही खराब है।" बोलता हुआ वह धीरे-धीरे रिक्शा लेकर खिसक गया।

वह पुरुष निराश होकर नुक्कड़ पर खड़ा रहा। जो रिक्शा-चालक पहले इस नुक्कड़ पर खड़े थे वे थोड़ी दूर आगे पान चौक पर चले गये थे। शाम गहरा रही थी और ठंड भी बढ़ रही थी। मैं स्वेटर-कोट पहने हुए था, फिर भी ठंड महसूस हो रही थी, लेकिन वह पुरुष जो फटेहाल था, अपनी बदहवासी में ठंड महसूस नहीं कर रहा था। पानचौक से एक रिक्शा लैम्पपोस्ट की रोशनी मे आता दिखा तो मैंने निश्चय किया कि यह रिक्शा जरूर ठीक हो जायेगा। पता नही, उस अनजान देहाती गरीब आदमी से मेरी क्यों इतनी सहानुभूति हो गई थी कि यदि मैं वहां से चला जाता तो रात भर बेचैनी से यही सोचता रहता कि संकट में पड़े उस आदमी का क्या हुआ?

रिक्शा-चालक को हाथ के इशारे से मैंने रोका। तब तक गोद में लाश लिए वह स्त्री भी सड़क पर आ गई थी। वह पुरुष झपटकर रिक्शे के पास पहुंच गया था। रिक्शा चालक को देखकर मुझे लगा कि यही रिक्शाचालक पहले यहीं इसी नुक्कड़ पर था। वह पुरुष रिक्शा-चालक की खुशामद फिर करने लगा था, "किसी तरह पहुंचा दो भैया बस-अड्डे तक। आखिरी बस छूट जायेगी!" मैं भी उस पुरुष के साथ हो गया था, "हां भाई पहुंचा दो नही तो बस नही मिलेगी।" रिक्शा-चालक ने आखिर अपना किराया बता दिया, "बीस रुपये लगेंगे बस-अड्डे का।"

"बीस रुपये? अरे, वहा का किराया तो ढाई-तीन रुपये हैं।"

"तो खोज लीजिये ढाई-तीन रुपये वाला रिक्शा।" वह आगे बढ़ने को हुआ तो मैंने लपककर उसको रोका। मुझे गुस्सा आ रहा था—तीन रुपये की जगह बीस रुपये? रिक्शा-चालक ने रियायत की—"ठीक है,

पंद्रह दे दीजिये।" रिक्शा-चालक उस समय रोगी की मृत्यु से निरपेक्ष चिकित्सक की तरह प्रतीत हो रहा था। गुस्से की गुंजाइश वहां नहीं थी। खुशामदी मुद्रा में सांझ और ठंड को महसूस करते हुए मैंने रिक्शा-चालक से दस रुपये पर तय करना चाहा तो रिक्शाचालक जो चालू किस्म का शहरी छोकरा था, विद्रूप हंसी में बोला, "कहां ज्यादा भाग रहा हूं मालिक! आखिरी आदमी की सवारी नहीं है, लाश है लाश!"

(प्रसारित जुलाई '86)

मोहरे

कस्बे में 'वीर महाराणा प्रताप स्मारक कॉलेज' की स्थापना के साथ विचित्र-सी हलचल शुरू हो गयी। अव्वल तो कॉलेज के नामकरण पर ही उग्र मतभेद था। इस छोटे-से कस्बे में कॉलेज खोला जाय, इस बात पर सब सहमत थे, लेकिन सहमति के समय कॉलेज का नामकरण सामने नहीं आया था। कॉलेज जब स्थापित होने लगा और नामकरण की समस्या सामने आई, तब भारी हंगामा शुरू हुआ। कॉलेज के लिए बाबू बसंत सिंह ने अपना गोदाम खाली करवाया था। इसलिए उनका दावा था कि कॉलेज उनके पिता बाबू राजवंशी सिंह के नाम पर हो। राजपूत मोहल्ले के कुछ प्रभावशाली राजपूत आपसी ईर्ष्या के कारण इस नाम पर सहमत नहीं थे। वे लोग राजपूत गंधवाला कोई नाम जरूर चाहते थे, लेकिन राजवंशी बाबू का नाम कॉलेज से जुड़ जाय, यह उनको सह्य नहीं था। कॉलेज के लिए मात्र एक गोदाम दे देना नामकरण का पर्याप्त आधार नहीं हो सकता था।

विश्वविद्यालय से संबंधन की सुरक्षा-निधि के लिए पचहत्तर हजार की जो राशि एकत्र की गयी थी, उसका आधा भाग राजपूत मोहल्ले से दिया गया था। शेष राशि दूसरे मोहल्ले के लोगों ने दी थी। गोदाम के आसपास तीन एकड़ का प्लाट टुनुकलाल साहू ने कॉलेज को दिया था। टुनुकलाल साहू का कहना था कि कॉलेज उनके पिता झुमुकलाल साहू के

नाम पर हो। उनका दावा था कि गोदाम से सटी जमीन की कीमत गोदाम की कीमत से दुगुनी है। कस्बे के 'बनिया-समाज' के लोग कहते थे कि कॉलेज महात्मा गांधी के नाम पर हो। गांधी जी के नाम का कोई क्यों विरोध करे? गांधी जी तो राष्ट्रपिता थे! राष्ट्रपिता का जवाब राजपूतों ने महाराणा प्रताप से दिया। राजपूतों का कहना था कि वीर महाराणा प्रताप स्वाधीनता के प्रतीक थे।...कॉलेज के नामकरण की भावना के पीछे छुपे हुए यथार्थ, यानी जातिवादी कुत्सा को कोई प्रकट करना नहीं चाहता था। क्षेत्र के विधायक चूंकि यादव थे, इसलिए उनकी 'लाबी' के लोग कॉलेज को चरणसिंह के नाम से जोड़ना चाहते थे, इसलिए स्थानीय स्तर पर यादव कुछ उन्नीस पड़ते थे, बनिये भी रणभूमि में सशस्त्र प्रकट होने की स्थिति में नहीं थे। लिहाजा, कॉलेज का नाम 'वीर महाराणा प्रताप स्मारक कॉलेज' ही रहा। प्रबंधकारिणी समिति के सचिव बाबू वसंत सिंह थे। विश्वविद्यालय से संबंधन के आवेदन पत्र में उन्होंने यही नाम रखा और समिति से इसका अनुमोदन करा लिया।

इस पहले मोर्चे पर स्पष्टतः राजपूतों की जीत हो गई थी। इधर बनिये, यादव और पिछड़ी जातियों के लोग कॉलेज को एक चुनौती के रूप में ले रहे थे और चाहते थे कि एक ऐसा कॉलेज खोला जाय, जिसमें चरण सिंह के नाम के साथ गांधी जी का भी नाम रहे और कर्पूरी ठाकुर का भी। संसदीय चुनाव-क्षेत्र के सांसद हरिजन थे और उनका विचार लेकर कुछ हरिजन नेता उछल-कूद मचाये हुए थे कि अंबेडकर का नाम भी इसके शुरू में जोड़ा जाय। लेकिन यह नाम जम नहीं रहा था और 'अशोभनीय रूप से काफी लंबा हो जाता था। आखिरकार ऐसा कोई कॉलेज नहीं खुला और कस्बे में एकमात्र कॉलेज 'वीर महाराणा प्रताप स्मारक कॉलेज' को ही स्वीकृति दे दी गई।

कॉलेज में असली जोर-आजमाइश तब शुरू हुई, जब शिक्षक और शिक्षकेतर कर्मचारियों की नियुक्ति का समय आया। प्राध्यापक पद के

लिए 'डोनेशन' के रूप में दस हजार लेने की बात तय हुई। लिपिक-पद के लिए चार हजार और चतुर्थ वर्गीय कर्मचारी पद के लिए तीन हजार रुपये लेने की बात निश्चित की गई। यह रेट तब और बढ़ाना पड़ा, जब उम्मीदवारों की बहुत लंबी कतार लग गई।

कस्बे मे पहली बार चहल-पहल शुरू हुई थी। आज लोग इस छोटे-से कस्बे को मरी हुई झील ही समझते थे। अब जाकर मालूम हुआ कि इस झील मे कितना कीचड़ और कितना पानी है। जातीय स्तर पर जो समरसता पहले दिखती थी, अब खुलकर सामने आने लगी थी और लोग एक-दूसरे को जातीय आधार पर पहचानने लगे थे।

हम तीन साथी थे इस कस्बे के, जो मिडिल स्कूल से साथ-साथ स्नातकोत्तर स्तर तक पहुंचे थे। दो वर्ष से हम तीनों बेकारी झेल रहे थे। हम कई अन्तर्वीक्षाओं से निराश हो चुके थे और अपनी ऊब मिटाने के लिए सिनेमा चौक की एक चाय की दूकान को अपना अड्डा बनाये हुए थे। पिछले साल अवर सेवा चयन परिषद मे टी० के० यानी तारेश्वर कुमार का चयन हो गया था, लेकिन पच्चीस हजार रुपये रिश्वत का जुगाड़ वह यथासमय नही कर पाया। दूसरा साथी बी० के० यानी विनय किशोर था, जो भौतिकी मे एम० एस० सी० था और कई अन्तर्वीक्षाओं मे पराजित था। तीसरा मैं था जी० के० यानी गौरीकांत। अर्थशास्त्र मे एम० ए० और दो साल से बेकार।

टी० के०, बी० के० और जी० के०—इन तीनों मित्रों का त्रियोग कस्बे में चर्चा का विषय था। हम लोग हालांकि अलग-अलग टोले-मोहल्ले के थे, लेकिन एकजुट थे अपनी मित्रता पर हमें गर्व था। सच कहा जाय तो यह हम लोगों की मित्रता ही थी, जो हमे ढाढ़स बंधाती थी। कोई एक अगर ऐसी स्थिति मे होता तो शायद अकेलेपन मे ग्रस्त होकर दब्बू, उद्दंड या पलायनवादी हो जाता। संभव है, डाकुओं के गैंग मे शामिल हो जाता। लेकिन, हम तीन थे और तीनों इस बात को महसूस करते थे कि हम एक-

दूसरे का दुख बांट रहे हैं। मिडिल स्कूल से लेकर स्नातकोत्तर स्तर तक की पढाई के बीच हम लोगों को कभी यह एहसास नहीं हुआ कि कौन किस जाति का है। हम तीनो को अपनी भावनात्मक उदात्तता पर विश्वास था और हम ऊंच-नीच का भेद-भाव नही मानते थे।

मैट्रिकुलेशन की परीक्षा का फॉर्म भरते समय ही हम तीनों ने अपने नाम के आगे से जातिबोधक पदवी हटा ली थी। टी० के०, बी० के० और मैं कभी-कभी एक ही थाली मे खा भी लेते थे। स्नातकोत्तर उपाधि लेने के बाद जब घर बैठने की स्थिति हमारे सामने आयी, तो पहली बार हम तीनों को दिन में तारे दिखने का मुहावरा सार्थक प्रतीत हुआ। हम तीनों की पारिवारिक पृष्ठभूमि भी ऐसी नहीं थी कि सिफारिश करा पाते या दस-बीस हजार घूस की व्यवस्था ही कर पाते। सरकारी-गैरसरकारी, कोई भी विज्ञापन निकलता, तो हम तीनों एक साथ आवेदन पत्र भेजते। 'पोस्टल आर्डर' खरीदने के हम इतने अभ्यस्त हो गये थे कि कस्बे का डाकपाल हमसे पहला सवाल यही करता था, 'पोस्टल आर्डर' चाहिए'''? हम शर्मिंदा हो जाते थे और झेंप मिटाने के लिए बिला वजह ही-ही करने लगते थे। हमारी नौकरी की जरूरत इस सीमा तक बढ गई थी कि हम तीनो उन पदों के लिए भी आवेदन पत्र भेजने लगे थे जिन पदो के लिए न्यूनतम योग्यता मैट्रिकुलेशन होती थी।

ऐसी बेकारी के बीच और जगहो की देखा-देखी अपने कस्बे मे भी कॉलिज खोलने की बात हुई तो हम बहुत खुश हुए। टी० के०, बी० के० और मैं मीठी कल्पना में कई दिनों तक मुस्कुराते रहे। यह आश्वस्ति हमारे लिए काफी थी कि कहा तो लिपिक तक का पद भी हमें नहीं मिल रहा था और कहां अब हम एकाएक प्राध्यापक हो जायेंगे। हम कॉलेज की स्थापना के प्रयास मे जी-जान से जुट गये। चंदा करने से लेकर गांव-गांव पोस्टर बांटने, पैंफ्लेट बांटने और अभिभावकों को विश्वास दिलाने की कोशिश में हम दो-तीन महीने तक परेशान रहे। चार-पांच महीने की जद्दोजहद की

परिणति जब सामने आई तब मामला कॉलेज के नामकरण पर आकर खटाई में पड़ने लगा। हम तीनों ने ऐसे समय हिम्मत से काम लिया। हम लोगों को कॉलेज खुलने से मतलब था। किसी राणा प्रताप, गांधी, जवाहर या लोहिया, चरण वगैरह से हमको कुछ लेना-देना नहीं था। हम बेरोजगार थे, रोटी का जुगाड़ चाहते थे, निरुपाय थे और अन्तर्वीक्षाओं में पिटे हुए थे।

लेकिन, इलाके में राजपूत, यादव, बनिये वगैरह जिनके पेट भरे हुए थे, कॉलेज की स्थापना को एक खेल की तरह ले रहे थे। उनको कॉलेज से उतना मतलब नहीं था, जितना कॉलेज के नामकरण से। हम लोगों ने इस झक-झक और विवाद का डटकर विरोध किया और यही कोशिश की कि कॉलेज किसी व्यक्ति-विशेष के नाम पर न हो, भले ही वह व्यक्ति गांधी-जवाहर-राणा प्रताप-चरण-लोहिया कोई भी क्यों न हो। इन विभूतियों के नाम के पीछे जातिवादी मवाद की गंध हम पा गये थे। यादव होकर भी टी० के० लोहिया-चरण-कर्पूरी आदि का विरोध कर रहा था और राजपूत होने के बावजूद बी० के० महाराणा प्रताप या कुंवर सिंह के नाम का विरोधी था।

मैं स्वयं जाति का बनिया था, लेकिन यह नहीं चाहता था कि कॉलेज किसी 'धनिमाविभूति' के नाम से जाना जाय। लेकिन, हमारे करने से क्या होता? विवाद छिड़ चुका था और विवाद उनके बीच था, जिन्होंने अपनी सम्पत्ति का कुछ भाग कॉलेज की स्थापना में लगाया था। किसी ने कॉलेज भवन के नाम पर गोदाम खाली कराया था, किसी ने आसपास की जमीन दी थी, किसी ने चन्दा दिया था।

हमारा वश नहीं चला। यादव सहित पिछड़ी जातियों और बनियों के बावजूद कॉलेज का नामकरण हो गया। बड़ा-सा साइनबोर्ड भी लग गया। गोदाम के सामने—वीर महाराणा प्रताप स्मारक कॉलेज। टी० के०, बी० के० और जी० के०, यानी मैंने मन मसोसकर स्वीकार कर लिया कि चलो,

कोई भी नाम रहे, क्या फर्क पड़ता है। बस कॉलेज रहे, इतना ही काफी है।

टी० के० ने हिंदी विभाग में, बी० के० ने भौतिकी में और मैंने अर्थ-शास्त्र विभाग में प्रथम पद पर ज्वाइन किया। कॉलेज की स्थापना में हमारी सेवा को देखते हुए प्रबंधकारिणी समिति ने हमसे चार-चार हजार रुपये किस्त पर अदा करने को कहा। हम तीनों ने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया। कॉलेज की प्रबंधकारिणी समिति के सचिव बसंत बाबू यद्यपि मैट्रिक पास ही थे, फिर भी कई हाई स्कूलों और इंटर कॉलेजों की स्थापना ने उनको काफी अनुभवी बना दिया था। यह बात दीगर है कि उनके धनी बनने का रहस्य ये संस्थाएं भी थीं।

जब से हम तीनों ने अपने-अपने विभाग में पद-भार ग्रहण किया, न जाने क्या हुआ कि हमारे बीच बचपन से मौजूद आपसी समझ और संकल्प के सूत्र में धीरे-धीरे कमजोर पड़ने लगे। पहले तो व्यस्तता आदि का बहाना चला, लेकिन धीरे-धीरे मुझे लगने लगा कि बी० के० मुझसे कटा-कटा रहने लगा है। वह अक्सर कॉलेज के सचिव बसंत बाबू के साथ रहता था। इधर टी० के० का भी कोई चक्कर चल रहा था। वह अक्सर पटना दौड़ने लगा था। मालूम हुआ कि इस क्षेत्र के विधायक पुहुप लाल यादव और अन्य यादव नेताओं से वह कोई 'विचार विमर्श' कर रहा है। मामला मेरी समझ में आता नहीं था कि यह दौड़-धूप आखिर क्या है? कॉलेज की स्थापना में सबसे ज्यादा संपत्ति लगाने वाले टुनकलाल साह को प्रबंधकारिणी समिति का अध्यक्ष बनाया गया था, लेकिन अपनी बौद्धिक अक्षमता के कारण वह कठपुतली बने हुए थे। कुछ राजनीति वह समझ भी जाते तो डर से समिति की बैठक में बोल नहीं पाते थे। वणिक वर्ग के लोगों ने मुझसे कहना शुरू किया कि देखते क्या हो? राजपूत, यादव, कुर्मी, नोनियां, धानुक सब अपने-अपने लोगों को कॉलेज में घुसा रहे हैं और तुम मुंह ताकते हो…? फिर मालूम हुआ कि बी० के० इस कोशिश में है कि प्रोफेसर

इंचार्ज वही बने। बी० के० को असली डर मुझसे था, क्योंकि एम० एस० सी० में उसको द्वितीय श्रेणी मिली थी और एम० ए० में मुझे प्रथम श्रेणी। हम तीनों के पद-भार ग्रहण की एक ही तारीख और एक ही समय था। पद-भार ग्रहणपत्र लिखते समय हम तीनों ने यह सोचा भी नहीं था कि प्रोफेसर इंचार्ज कौन बनेगा। मुझे मालूम हुआ कि बी० के० ने मुझसे और टी० के० से आतंकित होकर अपना पद-भार ग्रहणपत्र ही बदल दिया है। सचिव ने एक दिन पहले की तारीख में बी० के० का पद-भार माना है। बी० के० अपनी इस चालाकी के कारण मुझसे मिलने में घबराता था। बस कॉलेज में ही मुलाकात होती थी। मिलने-जुलने का हमारा पुराना अड्डा सूना हो गया था। हम तीनों अपने-अपने खेमे में थे, लेकिन एकदम अकेले पड़ गये थे। कॉलेज में नियुक्तियों का सिलसिला जारी था। सचिव रुपये बटोर रहे थे, डोनेशन के नाम पर। सचिव बसंत बाबू विश्वविद्यालय का चक्कर लगाने हफ्ते में एक बार अवश्य जाया करते थे। निरीक्षण-शुल्क उन्होंने जमा कर दिया था।

प्रोफेसर इंचार्ज का लेटरपैड छपकर आ गया। मैंने देखा, उस पर बी० के० का नाम था। टी० के० ने मुझसे कहा, "इसका विरोध करो। यदि तुम विरोध नहीं करोगे तो मैं करूंगा।" बी० के० को प्रोफेसर इंचार्ज बनाने का एक ही आधार था कि वह राजपूत था और सचिव भी राजपूत थे। एक हिसाब से कॉलेज की पूरी व्यवस्था राजपूतों के हाथ में चली गई थी। हम लोगों के शुरूवाले प्रयास से पचास से भी अधिक छात्र नामांकित हो गये थे। उधर टी० के० अपनी जोड़-तोड़ में लगा हुआ था। यादव विधायक ने उसको चढ़ाया। टी० के० ने यादव तथा अन्य पिछड़े वर्ग के छात्रों का एक गुट तैयार किया। उधर बी० के० ने सचिव से मिलकर ब्राह्मण-राजपूत-भूमिहार और कायस्थ छात्रों का एक दल तैयार किया। कॉलेज के सबसे बड़े डोनर और प्रबंधकारिणी समिति के अध्यक्ष टुनुकलाल साह ने मुझे अपनी 'गद्दी' पर बुलाया और समझाना शुरू किया, "तुम्हीं तो

हम बनियों की आंख हो। इस तरह चुप क्या बैठे हो ? दो लाख की संपत्ति मैंने दी और राजपूत राज करें ? चुल्लू भर पानी में डूबकर मर नही जाते ? जितने रुपये की जरूरत हो, मुझसे लो, लेकिन पीछे मत हटो।" टुनुकलाल साहू के चचेरे भाई हरिकिशनलाल साहू अधिसूचित क्षेत्र के उपाध्यक्ष थे। उन्होंने भी मेरी पीठ ठोकी, "किसी भी हालत में विनय और तारकेश्वर को पछाड़ना है। आगे हम देख लेंगे।" हरिकिशनलाल साहू कांग्रेस (इ) के जिला-मंत्री थे। उनकी बात मे मुझे वजन महसूस हुआ।

इस बीच टी० के० ने प्रोफेसर इंचार्ज का अपना दावा ठोंक दिया और सचिव पर पक्षपात का आरोप लगाकर वी० के० की छीछालेदर करते हुए विश्वविद्यालय के कुल-सचिव को लंबा पत्र लिखा। कॉलेज का निरीक्षण हो चुका था और पता चला कि वी० के० और टी० के०, दोनों ने मेरे साथ दगाबाजी की है, तो मैंने भी वरीयता का अपना दावा ठोंक दिया। सचिव को अग्रिम प्रति भेजकर सीधे कुल सचिव को आवेदन पत्र लिखा। अब वी० के०, टी० के० और मैं, तीनों अलग-अलग विभागों के अपरिचित प्राध्यापक की तरह स्टाफ रूम मे (रूम गोदाम का गंधाता हुआ अंधेरा कमरा था) मिलते थे। हमारी बातचीत लगभग बंद हो चुकी थी।

कॉलेज में दो-तीन गुटों में बंटे छात्र जब-तब जिंदाबाद-मुर्दाबाद के नारे लगाते थे। दो बार स्थिति तनावपूर्ण हो गयी। थाने के दारोगा को आना पड़ा, रायफलधारियों के साथ। जब-तब बगल के राजपूत टोले से समर्थक लाठियां आ जाती थीं। एक बार टी० के० के समर्थन में यादव-सेना भी आ गई बगल के टोले से। मेरे पास लाठी का बल नही था। मुझे बार-बार महसूस होता था कि टी० के० और वी० के० ने मेरी पीठ मे छुरा घोंपा है। कॉलेज के समय के बाद हम तीनो पुराने मित्र अलग-अलग ग्रुपों के साथ रहते थे। टी० के० का उठना-बैठना विधायक जी के यहा होता था या यादव टोली के मुखिया-प्रमुख के यहां। वी० के० प्रायः सचिव वसंत बाबू की मोटर साइकिल की पिछली सीट पर छिपकली की तरह

सटा दिखायी पड़ता था। मैं प्रबधकारिणी समिति के अध्यक्ष टुनुकलाल साह की 'गद्दी' पर अपने समर्थकों के साथ सुबह-शाम बैठने लगा था।

इस बीच मेरी जानकारी के दायरे के बाहर एक और घटना घट गई। कुछ दिन बाद मालूम हुआ कि जो जमीन कॉलेज को दी गई है, उसकी बदोबस्ती का कागज पुख्ता नहीं है। टुनुकलाल साह के छोटे भाई मुचुक लाल साह ने उस जमीन को लेकर 'पार्टीशन सूट' डाल दिया। वकील ने कागजात की प्रति विश्वविद्यालय के कुलसचिव को भेज दी।

कुछ ही दिनों में कुलसचिव का पत्र आ गया कि प्रस्तावित कॉलेज अनिवार्य शर्तें पूरी नही कर रहा है, इसलिए किसी भी स्थिति में इसके सबंधन पर विचार नही किया जायेगा।

कॉलेज उजड़ गया। कॉलेज के अहाते की जमीन को ट्रैक्टर से जोता जाने लगा। कॉलेज-भवन मे गोदाम का पुराना ताला झूलने लगा। 'वीर महाराणा प्रताप स्मारक कॉलेज' का बड़ा-सा बोर्ड एक पनवाड़ी खलीफा उठाकर ले गया। कस्बे का मकबूल पेंटर टीन की उस चादर की पीठ पर अमिताभ बच्चन का चेहरा बनाने लगा। जिन उम्मीदवारो ने सचिव को डोनेशन दिया था, वे सचिव के दरवाजे की धूल फांकते देखे गये। वी० के०, टी० के० और मैं फिर अपने उसी धरातल पर लौट आये थे। एक दिन मैंने वी० के० को पान की दूकान पर लाटरी का टिकट खरीदते हुए देखा। मुझको देखकर उसने कन्नी काटने की कोशिश की, लेकिन मैंने झपटकर उसको पकड़ लिया। उसकी पीठ पर एक धौल जमाते हुए कहा, "कहो प्रोफेसर इंचार्ज?" वह हंसने लगा। हम दोनों काफी देर तक अपनी मूर्खता को याद कर हसते रहे।

हंसते-हंसते हम दोनों टी० के० के घर गये। टी० के० बैठक में दरवाजे की तरफ पीठ किये गमगीन बैठा था। दबे पैर हम दोनो बैठक में घुसे। वी० के० ने टी० के० की बांह पर एक घूसा मारा। टी० के० अचकचाता हुआ मुड़ा और हम दोनों को देखकर बेवकूफ की तरह हंसने

लगा। वी० के० ने उसकी बांह पकड़कर उठते हुए कहा, "उठ साले प्रोफेसर इचार्ज !"

सिनेमा चौक की तरफ जाते हुए हम तीनों को चाय की ललक थी। मैंने वी० के० की जेब टटोली। जेब में पैसों की जगह लाटरी के कई टिकट थे। एक टिकट एक करोड़ का था। उसने टिकट मेरे हाथ से झटक लिये। टटोलने पर टी० के० की हिप-पॉकेट में तीन रुपये मिले।

चाय की दूकान मे हम तीनों बैठ गये थे। दूकान के मालिक बेचन मंडल से मैंने कहा, "ये बेचन···तुम जब रामलीला-पार्टी में थे, उस समय की वह बात एक बार फिर सुनाओ तो ! क्या होता था रामलीला में···? राम और रावण रंगमंच पर युद्ध करते थे और ग्रीन रूम में लौटकर एक ही बीड़ी आधी राम पीते थे और आधी रावण···।"

इस बात पर बेचन के साथ वी० के०, टी० के० और मैं खूब जोर से हंसे। टी० के० ने चाय की पहली घूंट ही ली थी। वह हंसते-हंसते बुरी तरह खांसने लगा। वी० के० देर तक अपनी दाहिनी हथेली से उसका सिर ठोंकता रहा।

(उत्तरगाथा जुलाई, '86)

आतंक

बहुत संक्षिप्त-सा तार आया था गांव से। कोई खुली हुई बात तार की भाषा में नहीं थी। बस जल्दी आने को कहा गया था। नीचे बड़े भइया का नाम था—रामनरेश।

बड़े भइया का तार देना एक बड़ी बात थी। अव्वल तो वक्त जरूरत ही वे कभी-कभार खत लिखते हैं। साल-छमाही, कभी किसी खास बात को लेकर उनका खत पहुंचता है। पिछले दो वर्षों में उनके सिर्फ तीन खत मिले थे। पहला खत बड़े बहनोई के देहांत की सूचना का था, दूसरा खत छोटी बहन की शादी की तारीख लेकर आया था और तीसरे खत में बड़े भइया की बेटी मालती के गौने की सूचना थी। बस कुल जमा तीन ही खत दो वर्षों की अवधि में मुझे मिले थे। लेकिन अचानक यह तार ?…मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि आखिर वजह क्या है। यदि कोई बीमार होता या किसी की मृत्यु आदि की भी बात होती तो संक्षेप में लिखा जा सकता था तार में भी। मैं चिंतित भी था और गुस्सा भी आ रहा था। साफ-साफ क्यों नहीं लिखा बड़े भइया ने ?

दफ्तर में आकस्मिक अवकाश का आवेदन-पत्र फेंका और रात की गाड़ी से गांव के लिए रवाना हो गया। दूसरे दिन सवेरे गाव के स्टेशन पर उतरा। स्टेशन के पास ही दुर्गा-मन्दिर के अहाते में दशहरे-मेले की तैयारी

'शुरू हो गई थी। दूकानों की 'पास-पट्टियाँ' गिर रही थीं। पटेर की चटाइयों और लूटे तिरपाल वगैरह टंग रहे थे। हल्के कुहासे में लिपटी सुबह और चटक मीठी धूप। आश्विन की सप्तमी थी वह। दुर्गा-मन्दिर से ढोल-ढाक की आवाज आ रही थी। मैं कुछ देर के लिए चिन्ता के केन्द्र से अलग होकर आश्विन के ढोल की आवाज की मादकता में खो गया। मेरे 'मादकता' शब्द पर किसी शहरी संस्कृति में पले आदमी को हंसी आ सकती है। लेकिन यह सच है कि मुझ-जैसे गांव में पले आदमी के लिए आश्विन के ढोल की आवाज महज आवाज नहीं है। आश्विन की हल्के कुहासे वाली सुबह की नीरवता में ढोल की आवाज एक पूरा परिवेश है। सांझ उदासी में बिरहा गाते चरवाहे की वंशी को क्या नाम दिया जाय? कैसे कहा जाय इसको कि ओस में नहाई आश्विन की भोर और धनखेतों पर बिछे कुहासे की पारदर्शी नीलिमा के स्पर्श में कौन-सा सुख मिलता है?

रेलवे स्टेशन के उस पार सड़क के मुहाने पर गिरदेव बाबा से मुलाकात हो गई थी। उन्होंने अचकचा कर मुझे देखा था—

"बहुत देर से आये शिवेश!"

"देर कहां हुई बाबा! बस तार मिला और चल दिया। तार में कुछ लिखा भी तो नहीं था कि बात क्या है।" मैं गिरदेव बाबा की तरफ देखने लगा था कि वे यही बात कहेंगे।

और मझली दीदी बगल में बैठी हुई थी। बड़ा भतीजा अमरेन्द्र दीवार के सहारे खड़ा था। बड़े भइया को नींद का इंजेक्शन दिया गया था। वे बेसुध थे। मालूम हुआ, भाले और छुरे के गहरे घाव हैं। सिर पर और चेहरे पर पट्टियों के कारण भइया की पहचान एकदम खो गई थी। एका-एक वातावरण बहुत कारुणिक हो गया था। डाक्टर से बात हुई। डाक्टर ने बताया कि अब चिन्ता की बात नहीं है। जान बच गई। भाभी ने आंखें पोंछते हुए कहा कि डकैतों ने कुछ भी नहीं छोड़ा। गहने-रुपये, बर्तन-बासन, कपड़े सब ले गये। भतीजी मालती पहले गौने के बाद लौटी थी। उसके भी सारे समान डकैत ले गये।

बाद में मालूम हुआ, सिर्फ एक महीने में यह तीसरी डकैती थी गांव में। इसके पहले भगतजी के घर डकैती हुई थी। भगतजी का लड़का महेन्द्र उसी में मारा गया। महेन्द्र स्कूल का मेरा साथी था। जब भी मैं गांव लौटता था, मेरा ज्यादा समय महेन्द्र के साथ कटता था। दो-तीन वक्त का उम्दा खाना तो उसके घर खाना ही पड़ता था मुझे! उस लंगोटिया यार के इस तरह मरने की बात सुनकर बहुत तकलीफ हुई थी मुझे। दूसरी डकैती पचम यादव के घर हुई और आठ दिनों बाद यह डकैती हुई। एक श्रृंखला में तीनों डकैतियां दहशत पैदा करती थी।

डकैतों के विषय में कोई कुछ बोलता नहीं था। तीसरे दिन बड़े भइया से थोड़ी बातचीत हुई। उन्होंने कहा कि डकैत आये तो खूब शोर हुआ। उनका बड़ा लड़का अमरेन्द्र दालान में सोया हुआ था। वह भाग निकला। गांव में दौड़-दौड़ कर वह चीखता-चिल्लाता रहा, लेकिन एक भी आदमी घर से बाहर नहीं निकला। डकैती के विषय में सुनकर तो कुछ लोगों ने किवाड़-खिड़कियों को अच्छी तरह बन्द कर लिया। डकैत लूट-मारकर चले गये तो गांव के लोग जमा हुए। बड़े भइया ने कुंहरते और फुसफुसाते हुए मुझसे कहा कि यहां अस्पताल में तो नहीं, लेकिन घर लौटने पर असली बात बतायेंगे। भाभी ने एकदम एकांत में मुझे ले जाकर बताया कि डकैतों

की शिनाख्त तो आसानी से हो सकती है, वे आसानी से पकड़े भी जा सकते हैं, लेकिन नाम बताना खतरे से खाली नहीं है। दारोगा जी भी पूछ रहे थे कि किसी को पहचाना तो बोलो। मगर बोले कौन ? क्या दारोगा जी नहीं जानते हैं ? फिर भी पूछने लगे की डकैत किस भाषा में बोलते थे, कैसे घुसे घर मे, डील-डौल कैसा था, वगैरह-वगैरह। गोल-पटोल बता दिया बड़े भइया ने। सही बात नही कही।

मैं चकरा गया सुन कर। पूछा भाभी से, "आखिर डर क्यों है भाभी ? जब भइया पहचानते हैं, आप भी कुछ को पहचान गई तो पुलिस को बताने में क्या हिचक है ?"

बड़े भइया से बात हुई। अस्पताल में तो कुछ बताने से वे इनकार कर गये, लेकिन तीसरे दिन जब बैलगाड़ी पर लादकर उन्हें घर ले आया गया तो मैंने फिर वही शंका की, "आपने पहचाना डकैतो को ?" भइया इधर-उधर सूंघते हुए धीरे से बोले—"अरे पहचाना क्या, रोज ही देखता हू। लेकिन···"

"लेकिन क्या ? जब आपने पहचाना तो बोल देना चाहिए दारोगाजी को अभी समय बीता नही है।"

भइया एकाएक सख्त हो गये, "तुम नही समझोगे शिवेश ! मैं सिर्फ दो को छोड़कर चौदहों-पंद्रहो को पहचानता हू। अपने यहां हलवाहा था न बिसुनियां ! वही घूम-घूम कर घर में रखी चीजों को बता रहा था। मुंह पर कपड़ा बांधे हुए था, लेकिन बोली को कहां छिपाता ! दुलिया सरदार था डकैतों का। वह भी बगल के गांव का है। कई बार आया है मेरे घर खर्चा-पानी लेने। इन तमाम डकैतों को अपने मुखियाजी का संरक्षण प्राप्त है। उन्हीं की बंदूक जाती है डकैती में। पिछले साल नेपाल बोर्डर पर जो डकैती हुई थी उसमें मुखिया जी की बन्दूक पकड़ी गई थी। लेकिन मुखिया-जी ने पंच बिठाकर बन्दूक ले ली दारोगा से। बन्दूक वाली बात को 'भा[ड़]-तोप' दिया गया। दुलिया भी पकड़ा गया था। उसकी पैरवी होने

अपने विधायक जी खुद पैरवी कर रहे थे। जमानत हो गई उसकी। डकैती और मर्डर के कई केस चल रहे हैं दुलिया पर। कुछ केसों में वारंट भी हैं उसके ऊपर, लेकिन खुले आम घूमता है। पुलिस देखती है। कुछ करती नहीं है। एक दूसरा गैंग है समसुलवा का। तीन-चार महीने पहले समसुलवा ठीक सात बजे शाम मे मोटर साइकिल पर आया। गांव की हाट थी उस दिन! उधर दूकान में लोग सौदा-सुलुफ ले रहे थे, इधर आंगन में घुस गया समसुलवा और दुलीचन्द सेठ को गोली मार कर चला गया। गोली मारने के पहले बोला कि बेईमानी और दगाबाजी की सजा देने आया है वह। दुलीचन्द सेठ डकैतों का माल रखता था। सुनते हैं, लेन-देन में कोई झंझट हो गई थी। दुलीचन्द को गोली मार कर जब समसुलवा जाने लगा तो यह भी चेतावनी देता गया उसके बेटे को कि अगर किसी से नाम कहा तो पूरे खानदान को मार डाला जायेगा। सुबह दारोगाजी आये। फिर वही बात पूछने लगे, "पहचाना? कौन था?" दुलीचन्द के बेटे ने नाम नहीं कहा।

"तो यह हालत है अपने गांव की!" मेरी इस स्वगतोक्ति पर बड़े भइया धीरे-धीरे कराहने लगे। घावों से भरे उनके चेहरे पर आत्मदया या विवशता का ऐसा भाव उभर आया जिसे महसूस कर मैं चुप रह गया। बड़े भइया कहने लगे, "कौन आफत मोल ले नाम बोल कर? पंचम यादव के यहां डकैती हुई। कुछ दिनों बाद डकैतों के ही एजेंट पंचम यादव से कहने आये कि माल पड़ा हुआ है। वापस चाहते हो तो रियायती दाम पर लौटा दिया जायेगा। पंचम यादव का बेटा गया और जरूरी सामान खरीद कर ले आया। पुलिस के पास कौन जाय? और जाकर भी क्या होगा? सबकी सांठ-गांठ है। सिर्फ बाहर से दिखाने के लिए है गिरफ्तारी केस-मुकदमा! कुछ दिन पहले जब दुलवा डकैत की गिरफ्तारी हुई तो यहां के एम०एल०ए०, मुखिया, प्रमुख सब में होड़ लग गई कि कौन दुलवा की पैरवी करता है।

मेरे भीतर बौखलाहट हो रही थी। आवेश में बड़े भइया से कहा, "लेकिन इस तरह चुप रह जाने से काम नहीं चलेगा ! और प्रोत्साहन मिलेगा अपराधियों को ! लोग इसी तरह डर कर डकैतों के नाम बताने से कतराते रहे तो दूसरे लोग भी यही काम करने लगेंगे।" बड़े भइया के चेहरे पर वही असहाय भाव था, "सो तो है शिवेश ! लेकिन यह आफत कौन मोल ले ? नाम कह देने पर गवाह नहीं मिलेंगे। डकैत गिरफ्तार भी होंगे तो पैरवी से छूट कर चले आयेंगे और उसके बाद फल भुगतने के लिए कौन तैयार होगा ? गांव की हालत तो ऐसी हो गई है कि कहीं डकैती होती है तो पड़ोसी अपने किवाड़ कस कर बन्द कर लेते हैं। कोई घर से निकलता नहीं है। इलाके के जितने धनी लोग हैं सब डकैत पाल कर रखते हैं। कोई डकैत जेल चला जाता है तो उसके परिवार का खाना-कपड़ा वही धनी लोग देते हैं। वोट के समय नेता लोग इन्हीं डकैतों की सहायता लेते हैं। जो डकैतों को नहीं पालते उन्हीं के घर डकैती होती है, उन्हीं की जान जाती है।"

मैं अपने तर्क पर अडिग था, "नहीं भइया, इस तरह चुप रहने से काम नहीं चलेगा। मैं कल जाता हूं, सुबह की बस से एस० पी० से मिलूंगा सच्ची बात बताऊंगा कितना आतंक फैल रहा है गांव में।" भइया एकाएक घबरा-से गये, "नहीं शिवेश ! यह काम मत करना ! रहना है हम लोगों को यहां ! तुम तो आग लगा कर चले जाओगे। बाद में किसी दिन तुम तक खबर पहुंचेगी कि रामनरेश मारा गया। मेरी शपथ…।"

मैं चुप रह गया। भीतर विचित्र-सी बेचैनी थी।

शाम के कुछ पहले बाजार की तरफ जा रहा था तो रास्ते में सिरदेव चाचा ने मुझे एकांत में बुलाकर कहा, "तुमको तो सब पता चल ही गया होगा शिवेश ! लेकिन कहीं कहना मत। यदि चाहते हो कि तुम्हारे परिवार पर कोई आफत न आये तो मन की बात मन में ही रखना।" सुनकर मैं हतप्रभ रह गया। गांव का हर आदमी इस तरह डरा हुआ है कि खुल कर

बोल भी नहीं पाता। यह नपुंसकता भयावह प्रतीत हो रही थी मुझे।

उस दिन गांव की हाट थी। हाई स्कूल के सामने जहां हाट लगती है, मैं पुराने बरगद के नीचे बने हुए चबूतरे के पास खड़ा हो गया। मन-ही-मन किसी हमउम्र साथी की तलाश भी करता रहा। मन में आ रहा था कि कोई पिछले समय का संगी-साथी मिलता तो खुल कर बात करता। मन तो हल्का हो जाता कम-से-कम! इसी समय मेरा भतीजा अमरेन्द्र मेरे पास आया। मुझसे सट कर धीरे-धीरे कहने लगा, "चाचा, बीच रोड पर उधर एकांत में जो आदमी मुखियाजी से बात कर रहा है न···देख रहे हैं?··· वह लम्बा-सा आदमी? वही है दिलबा। उसी ने डकैती की थी अपने घर!" कहते हुए अमरेन्द्र डर रहा था। दिलबा को अच्छी तरह पहचानने के लिये मैं थोड़ा आगे बढ़ गया। मुखियाजी ने मुझे देखा और दिलबा को छोड़कर मेरी तरफ बढ आये, "कहो शिवेश! कब आये? उसी बात को लेकर आये होगे, क्यों?"

"हां, वही बात थी।"

"अरे मैंने तो कहा रामनरेश से कि किसी को पहचाना तो बोलो। दारोगाजी भी पूछ रहे थे, लेकिन किसी को पहचान नहीं सका रामनरेश! इधर तो गांव की हालत बहुत खराब हो गई है। डकैती-मर्डर इतने बढ गये हैं कि कुछ समझ मे नहीं आता। दारोगाजी का तबादला हो गया है इसी कारण। दूसरे दारोगा आ गये हैं चार्ज लेने!" मैं मुस्कराया, "दारोगा का तबादला हो जाने से सब ठीक-ठाक हो जायेगा मुखिया जी?"

मुखियाजी बगल झांकने लगे,—"सो बात तो नहीं है शिवेश! मगर सरकार तो अपना काम करेगी।" कहते हुए मुखियाजी आगे बढ़ गये। मैं वहीं खड़ा रह गया। कोई ऐसा आदमी नहीं मिल रहा था गांव की हाट मे जो मुझसे मिल-बैठकर थोड़ी देर बातचीत कर सके। जिस गांव में पूरा बचपन बीता, जिस गांव का हर चेहरा पहचाना हुआ था, उसी गांव की हाट में ढेर-सारे लोगों को पहचानते हुए भी मैं अकेला खड़ा था। कोई

संगी-साथी दिखता भी है तो आंखें चुरा कर आगे निकल जाता है। कहीं लोगों को यह तो नहीं लग रहा है कि डकैती की बाबत मैं किसी से पूछ-ताछ करूंगा ? मुझे असह्य अपमान-सा महसूस हो रहा था। वहां महानगर की अपरिचित भीड़ मे कोई बात करने वाला मिले तो अस्वाभाविक नहीं लगता, लेकिन यह तो अपना गांव है ! यही सब मैं सोच रहा था कि चाय की दूकान के पास एक आदमी पर मेरी नजर पड़ी। तीन-चार आदमियों से घिरे उस कद्दावर जवान को मैंने पहचाना और चुपके-चुपके उसके पास चला गया। जाने कौन-सी आत्मीय शरारत मुझे सूझी कि पीछे से उस लम्बे-तगड़े आदमी की मैंने कलाई पकड़ ली, "क्यों इन्दर ? देख कर आंखें चुराते हो ? आयं···?" इन्दर हाई स्कूल में मेरा साथी था। बचपन से एक साथ पढ़े थे हम दोनों। इन्दर मुझे देखकर पहले तो सहमा, फिर मुस्कुराने लगा। उसके मुस्कुराने में स्वाभाविकता नहीं थी, एक बनावटी-पन था या व्यवहार का छल था जो मुझसे छिपा नहीं रहा। चाय पान की उस दूकान में इन्दर ने मुझे चाय पिलाई, पान खिलाया। इधर-उधर की बातें की। लेकिन मुझे यही महसूस होता रहा कि इन्दर के भीतर घबरा-हट है और मुझसे पिंड छुड़ाने की कोशिश कर रहा है। फिर मिलने की बात कह कर इन्दर अपने शागिर्दों में जा मिला। थोड़ी देर बाद अमरेन्द्र फिर आया मेरे पास, "चाचा, किससे बात कर रहे थे आप ?"

"क्यों ? वह तो इन्दर था—इन्द्रानन्द ! अरे मेरा लंगोटिया यार था वह !" अमरेन्द्र विद्रूप-सी हंसी हंसने लगा, "रहा होगा आपका लंगो-टिया यार ! अब तो वह इनरा डकैत है। अपने यहां की डकैती में इनरा भी था। आपको क्या पता होगा !" मेरे पैर तले जमीन जैसे खिसक रही थी। लग रहा था, यह कोई तिलिस्म है, कोई अजनबी दुनिया है। अपना गांव नहीं है यह···।

इन्दर जब स्कूल में मेरे साथ पढ़ता था, अक्सर मेरे घर आता था। मां और भाभी के पैर छूता था। एक ही थाली में खाते थे हम दोनों। वही

इन्दर डकैती करने मेरे घर आया था ?..."

अपना गांव एकाएक बेहद पराया और क्रूर दिखने लगा। शाम को घर लौटते हुए मैं यही सोच रहा था कि अपने गांव से ज्यादा सुरक्षित तो मेरा शहर है। कुछ होता भी है तो कम-से-कम मुझ-जैसे गाव के लोगों के मन में मोह के आइने तो नही टूटते हैं ? यह सन्तोष तो रहता है कि चलो, यह शहर पराया है। अपना गाव थोड़े ही है ?...

कच्ची सड़क की बगल में गाव की चौपाल एकदम सूनी थी। आश्विन की नवमी का चांद आसमान में चमक रहा था। उस धुधली-सी उजास में चौपाल के चबूतरे के ऊपर झंखाड़ पाकड़ की ठूठ मोटी डालियां कटे हाथों की तरह दिख रही थी। चबूतरा एकदम ढह गया था। दिन में चौपाल की इस जगह को देखा था। इस पर जंगली घास उग आयी थी। लाल-भूरी-मटमैली ईंटें जगह-जगह से उखड़ कर नीचे गिर गयी थी। सिर्फ बीच में थोड़ी-सी जगह बची हुई थी। इस चबूतरे को देखकर जाने क्यों, मुझे मरणासन्न कुष्ट रोगी की याद आयी थी जिसका अंग-अंग सड़ा हुआ था, हाथ-पांव की उंगलियां कट-कट कर गिर गयी थी। शायद मौसमी हवा में रची-बसी हल्की ठंडक के कारण या अपने जेहन में उभरी एक भयावह सादृश्य कल्पना के कारण मेरी देह में सिरहन हुई थी। जुगुप्सा भरी उस कल्पना से बचने की कोशिश करता मैं घर लौट रहा था। आस-पास के घरों के बाहर कही भी रोशनी नही थी। शाम में ही लोग कछुए की तरह अपने-अपने में सिमट गये थे। एक जलती हुई लालटेन मद्धिम-सी चांदनी में गमगीन और डरी-डरी-सी दिखाई पड़ती थी। ऐसा लगता था जैसे दीवाली की एक रात पहले घर के पिछवाड़े में रखा हुआ 'यम का दिया' हो !

बड़े भइया दलान की खाट पर लेटे हुए कुंहर रहे थे। थोड़ी देर पहले गांव का कम्पाउंडर इन्जेक्शन देकर गया था। बड़े भइया के पायताने भाभी उदास बैठी लालटेन की रोशनी की तरफ एकटक देख रही थी। स्याह

शीशे में रोशनी नहीं, रोशनी की परछाईं थी और धुआं भरा हुआ था। भाभी की खोई-खोई-सी मनःस्थिति में भविष्य की आशंका थी या हाल ही में लुटी-पिटी घर-गृहस्थी का शायद अनुताप था, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा था।

भइया चुप थे। कभी-कभी कराहने की घुटी-घुटी आवाज सुनाई पड़ती थी। भाभी पहले की तरह स्याह शीशे वाली लालटेन की तरफ देख रही थीं। धुआं उगलती रोशनी की परछाईं वाली वह लालटेन हमारे बीच के फैले मौन को ज्यादा गहराती प्रतीत होती थी। भइया धीरे-धीरे कहने लगे, "तुमको तो सब पता चल ही गया है शिवेश! लेकिन डकैतों के बारे में किसी से कहना नहीं। नहीं तो जीना मुश्किल हो जायेगा हम लोगों का! तुम तो रहोगे नहीं। झेलना तो हम लोगों को पड़ेगा!" मैं चुपचाप सुनता रहा। बड़े भइया की नवविवाहिता पुत्री मालती गर्म पानी ले आयी थी। हल्के अंधेरे में लिपटी मरियल-सी रोशनी में भी मालती की सूनी कलाइयां, सूने कान और सूनी गर्दन दिख रही थी। गोरे चेहरे पर विषाद का मौन था। मैं उस भयावह कल्पना को झेल नहीं पा रहा था। बचपन का वह साथी इन्दर जो एक ही थाली में मेरे साथ खाता था, भाभी खाना खिलाती थी और जब तक हम दोनों खाते रहते तब तक खड़ी रहती थी हमारे पास···उस इन्दर के हाथ कैसे उठे होंगे मालती और भाभी के गहनों पर, यह सोचकर मैं बेहद हैरान था। झपट्टा मारते उन खूंखार पंजों की भयानक आकृति बन रही थी मेरे भीतर और वे पंजे धीरे-धीरे बड़े होते जा रहे थे।

रात काटना मुश्किल हो गया था मेरे लिए। पूरी रात जागता ही रह गया था। मेरे भीतर गांव को लेकर मोह का जो धुला-पुछा आईना नगर-जीवन के एकांत में मुझे प्रतिबिंबित करता था। बिलकुल टूट चुका था। मेरे भीतर जमे हुए अतीत की कोमलता में टूटे हुए शीशे बेतहाशा धंस रहे थे।

वापसी के समय बड़े भइया घावों के दर्द से कराहते हुए रोने लगे थे। भाभी आसू पोंछ रही थी और मालती सूनी उदास आंखों से मेरी तरफ देख रही थी। बड़े भइया और भाभी के पैर छूते हुए मैं खुद रो पड़ा था।

दशहरे की 'यात्रा' थी उस दिन। दुर्गा-स्थान से दशहरे के ढोल की आखिरी आवाज आ रही थी। लेकिन उस आवाज में रूमानी अहसासों की आहट तक नहीं थी। मुझे लगता था, मातम की मुनादी है यह! गाव की पुरानी चौपाल के उसी प्रागण के पास पंडित दूधनाथ मिल गये थे। कलश-पंक पर जनमी 'जयंती' लिये पौरहित्य का रटा हुआ विजय-पाठ पढ़ते हुए उन्होंने 'जयंती' मेरे सिर पर रखनी चाही थी, लेकिन मैंने उनका हाथ बीच में रोक दिया, "नहीं, पंडित जी···जयंती नहीं।" पाकड़ की ठूठ डाली पर डोमकौआ अशुभ-सा उचार रहा था।

(सारिका, अगस्त-प्रथम '86)

झूठी कहानी का सच

हर शहर में, हर कस्बे में, हर गांव में एक आदमी है। इस आदमी को मैं रोज देखता हूं। शहर या कस्बे में वह रिक्शा खींचता है, खोमचों पर ठेलों पर सामान बेचता है, लोगों के बाल काटता है, जूते सीता है या कुली-कबाड़ी का काम करता है। उसकी औरत रद्दी कागज के थैले बनाकर बेचती है, सिर पर फलों की या सब्जी की टोकरी लिए सड़क-सड़क, मुहल्ले-मुहल्ले आवाज लगाती फिरती है या सुविधा प्राप्त लोगों के घरों में दाई का काम करती है। यही औरत घर-घर घूमकर खाली कनस्तर, बोतल-शीशियां वगैरह खरीदती है और कबाड़खानों में बेच आती है। ऐसे कई तरह के काम यह आदमी और इस आदमी की औरत करती है। यह आदमी हर शहर में है, हर कस्बे में है, हर गांव में है। यह आदमी न रहे तो न शहर रहेगा, न कस्बा रहेगा, न गांव ही रहेगा। इस आदमी का नाम कुछ भी हो सकता है। मसलन वह सीताराम है, अनवर है, अलबर्ट है, हरभजन है—नाम में क्या रखा है! ...

गरज यह कि इस आदमी की औरत घर में बैठी नहीं रहती। वह कुछ-न-कुछ काम करती है—ऐसे काम जिनका मकसद पेट से सीधे जुड़ता है। यह आदमी और यह औरत आज के कथा-साहित्य के केंद्र में है। इस आदमी और इस औरत पर मैंने भी कई कहानियां और कुछ उपन्यास लिखे हैं। यह औरत मेरे उपन्यासों में भी है, मेरी कहानियों में भी है। यही

औरत मेरे घर मे दाई का काम भी करती है। यह दाई जो मेरे घर में सुबह-शाम चौका-बर्तन करने आती है, अपनी गोद में छह-सात महीने के बच्चे को लेकर आती है। जब वह काम करती होती है तो बच्चे को बाहर बरामदे पर रख देती है। दाई के घर में कोई नही है जिसके भरोसे वह अपने बच्चे को छोड़ आये। बड़ा बेटा नौ-दस साल का है जो कहने को तो नगरपालिका स्कूल में पढता है, लेकिन मैं अच्छी तरह जानता हूं कि जब स्कूल ही सिर्फ नाम का है तो पढाई क्या होती होगी !

खैर, मैं दाई के बड़े बेटे के विषय में नही, दाई के विषय में बात कर रहा हूं। वह दाई सवेरे-शाम मेरे घर में काम करने आती है और जब भी आती है अपनी गोद मे बच्चे को लिए आती है। फटे-गंदे कपडे में लिपटे बच्चे को वह बाहर बरामदे पर रख देती है और अपने काम मे लग जाती है। बच्चा रोता रहता है और वह काम करती रहती है। बच्चा जब रोते-रोते बदहवास हो जाता है और हम लोगो के लिए भी इसका रोना असह्य हो जाता है, तब वह बच्चे को गोद मे ले लेती है। बच्चा जब तक गोद मे रहता है तब तक चुप रहता है, लेकिन गोद से अलग होते ही फिर रोने लगता है।

सुबह मेरे लिखने का सबसे अच्छा समय होता है—सबसे निरापद और शांत समय, लेकिन ठीक इसी समय दाई अपने बच्चे को लिए चली आती है और मेरा रचनात्मक समय एकदम बेकार हो जाता है।

दाई अलस्सुबह ही आ जाती है और सर्दियों में इतने सवेरे जग कर किवाड खोलने के लिए दरवाजे तक जाना तकलीफदेह होता है। परिवार में सारे लोग जब कम्बल-रजाई ओढे दुबके रहते हैं, उसी वक्त दाई किवाड़ खटखटाने लगती है। मन मे गुस्सा तो बहुत आता है, लेकिन किवाड़ खोलने के लिए मुझे ही उठना पड़ता है। रजाई ओढ़े मैं उस वक्त लिखता रहता हूं। मन-ही-मन दाई को कोसता हुआ किवाड़ खोलता हूं और निश्चित हो जाता हूं कि अब लिखना बंद। दाई अपने बच्चे को बरामदे

पर रखेगी, बच्चा रोना शुरू करेगा और तब कुछ भी लिखना या सोचना संभव नहीं होगा। उसके बाद मेरी बौखलाहट शुरू होती है।

पिछले तीन-चार दिनों से शीत-लहर चल रही थी। मैं घर में ही बंद रहा और रूम-हीटर के सहारे समय काटता रहा। उसी शीत-लहर वाली एक सुबह दाई काम करने चली आई थी। रोज की तरह उस दिन भी दाई ने बरामदे पर दीवार की ओट में चटाई बिछा कर बच्चे को रखा और कमरों में झाड़ू देने लगी। बच्चा रोज की तरह रोने लगा। मुझे बौखलाहट होने लगी। लेकिन मुझे लगा, बच्चे का रोना कुछ दूसरी तरह का है— करुणा-सी कराह के साथ रोने की आवाज मुझे बेचैन करने लगी। ओवर कोट पहने मैं बाहर बरामदे पर निकल आया। बच्चा चटाई पर पड़ा कराह रहा था। मैला-सा एक फटा ऊनी स्वेटर और सूती कपड़े की टोपी थी बच्चे के शरीर पर। मैंने दाई से कहा कि बच्चे को वह बरामदे से उठाकर अंदर वाले बरामदे पर ले जाए। दाई फर्श पोंछने का काम बीच में ही छोड़ कर बच्चे को अंदर वाले बरामदे पर ले गई। अंदर हवा का झोंका नहीं था। अंदर वाले बरामदे पर बच्चे को रख कर दाई फिर काम में लग गयी और बच्चा फिर रोने लगा। बच्चे का रोना मुझसे बर्दाश्त नहीं हो था। उधर से ध्यान हटाने के लिए मैंने रेडियो की आवाज तेज कर दी। मैं भीतर से कुछ उद्विग्न हो गया था। दरअसल इस बच्चे के कारण मेरी हर सुबह बेकार हो जाती है। आज कुछ आवश्यक लेखन करना था। उपन्यास पूरा हो गया था और अब पहले दिये गये शीर्षक पर माथापच्ची चल ही रही थी कि यह दाई आ गई बच्चे को लेकर। मैं मानसिक बेचैनी की स्थिति में बाहर निकल आया और बरामदे पर चहलकदमी करने लगा।

दाई ने बच्चे को अंदर वाले बरामदे पर चटाई बिछा कर लिटा दिया था। बच्चे के रोने और कराहने की आवाज बाहर तक आ रही थी। मुझे लग रहा था, यह बच्चा बीमार है। कोई डेढ़ घंटे बाद दाई अपना काम

समाप्त कर चली गयी।

उस दिन शाम में दाई काम करने नही आई। दूसरे और तीसरे दिन भी वह काम पर नही आई। तीसरे दिन पत्नी से मालूम हुआ, दाई का वह बच्चा मर गया। बच्चे को न्युमोनियां हो गया था।

दाई की गैरहाजिरी लंबे समय तक नही खिची। सातवें दिन वह फिर काम पर लौट आई। ठंड अभी चल ही रही थी। एकदम सवेरे का समय था और मैं कम्बल ओढ़े लिख रहा था। किवाड़ पर ठक-ठक की पहचानी हुई आवाज पर मैंने दरवाजा खोला। दाई अवसन्न भाव से सामने खड़ी थी। मैंने उसको गौर से देखा। उसकी गोद आज खाली थी।

मैं कमरे मे लौट आया और एक अधूरी कहानी पूरी करने लगा। हफ्ते भर पहले तक सवेरे का समय दाई के बच्चे के लगातार रोने के कारण बर्बाद हो जाया करता था। अब कोई ऐसी बाधा नही थी।

दाई घर को झाडने-बुहारने के काम मे जुट गई थी। मैं अपनी अधूरी कहानी को आगे बढ़ा रहा था। मुझे राहत महसूस हो रही थी कि अब सवेरे का मेरा मूल्यवान समय बर्बाद नही हो रहा है। उसी समय मैंने सोचा कि यह कहानी जब पूरी हो जायेगी तब मैं इस दाई की जिंदगी पर एक कहानी लिखूंगा। दाई की लाचारी और दुख पर एक अच्छी-सी दर्दनाक कहानी लिखी जा सकती है। पर्याप्त कपड़े, दवा और रख-रखाव के अभाव मे उसका बेटा मर गया। कैसी करुण स्थिति है कि वह मातम भी नही मना सकी ठीक से। बच्चा मरा और हफ्ते भर बाद ही काम पर चली आई। काम नही करेगी तो खायेगी क्या? उसकी इस लाचारी पर मैंने कहानी का प्लॉट बनाना शुरू किया। दाई के बच्चे के मरने की कारक परिस्थितियों और संवेदनात्मक सूत्रो पर सोचने लगा जिससे कहानी गरीबी के संघर्ष से जुड़ कर सार्थक दिशा का संकेत दे सके। कहानी जब पूरी हो जायेगी तब मैं इस कहानी को किसी व्यावसायिक पत्रिका को प्रकाशनार्थ भेजूंगा। मुझ-जैसे स्थापित कहानीकार की कोई कहानी संपादक लौटाता

नहीं है, इसलिए कहानी छपेगी ही और छपेगी तो मुझे अच्छा पारिश्रमिक भी मिलेगा।

सुबह और शाम को मेरा वक्त अब बर्बाद नहीं होगा। दाई अब अपने रोगी बच्चे को गोद में लेकर काम करने नहीं आयेगी। मुझे सुकून-सा महसूस हो रहा है। लगता है, एक लंबी मानसिक परेशानी से निजात मिल गई है।

महीना पूरा होने पर पगार देते समय मैंने दाई से पूछा कि वह कितने रुपये लेगी तो दाई ने पूरे महीने की पगार से एक सप्ताह की मजूरी खुद ही कम कर दी। दाई ने जितना कहा, मैंने उसके हाथ मे रख दिया। एक सप्ताह के पूरे दस रुपये मेरे हाथ में बच रहे थे। मैंने इसे अपनी बचत मान ली और खुश हो गया।

(आज, 7 दिसम्बर '86)

विकल्प

शहर की चिकनी सड़कों पर दौड़ने वाली कार की आवाज गांव की कच्ची सड़क पर आते ही बीमार आदमी की हफनी-जैसी बन गई थी। धूल और धुआं दोनों ज्यादा हो गये थे। गति मद्धिम पड़ गई थी। कोई नगर-किन्नरी जैसे गांव की सड़क पर आ गई हो, मेरे अफसर मित्र की फिएट कार की वही दशा थी।

अपनी इस ऊट-पटांग सादृश्य-योजना पर मैं मन-ही-मन हंसा और गांव की सीमा मे अपनी उम्र के पिछले पड़ावों की पहचान करने लगा। किसी आदमी को यदि यह माप करनी हो कि वह अपने से कितनी दूर चला गया है तो उसको उस जगह आना चाहिए जहां उसका बचपन बीता हो।

पांच-छह साल बाद 'प्रसंगवश' मैं गांव लौट रहा था। शुरू मई महीने का तीसरा पहर। दरवाजे के अहाते के बाहर बरगद की छांह मे ड्राइवर को गाड़ी लगाने के लिए कह कर मैं दरवाजे पर आया। दरवाजे वाले बाहरी कमरे में खेती-बाड़ी की देख-रेख करने वाले रिश्ते के मौसेरे भाई राम विलास की तलाश की, लेकिन वह कहीं दिखा नहीं। अंदर आंगन की तरफ गया। थोड़ा वक्त लगा पहचानने में कि यह मेरा ही घर है। घर की बनावट में आये किसी बदलाव के कारण ऐसा नहीं था। घर तो बिलकुल वही था—सात कमरों वाला पक्के का मकान। आंगन, बरामदे,

गलियारे वगैरह। इस मकान का नक्शा खुद भैया ने बनाया था और नक्शे में इसका पूरा ध्यान रखा गया था कि मकान गांव में बन रहा है। नगर, महानगर और गांव में बनने वाले मकानों में सुविधा और बनावट की दृष्टि से जो बुनियादी फर्क रहता है, उसका भैया ने पूरा ध्यान रखा था।

दहलीज के पास अचकचाया हुआ मैं खड़ा था। आंगन में तीन-चार बच्चे जो खेल रहे थे, मुझको देखते ही सहम गये। दक्षिण वाले बरामदे पर तीन-चार स्त्रियां बैठी हुई थीं। उन्हीं में एक मां थी। मैं अकस्मात् पहुंचा था आंगन में। मन के भीतर मेरी वह बाल-चपलता ही रही होगी जिसके तहत मैं मां को चकित कर देना चाहता था। मां ने मुझे देखा, लेकिन मुझे ऐसा नहीं लगा कि वह चकित हुई हैं। मुझे देख कर वह स्वभावजन्य नेह भरी हंसी हंसने लगी। औरतों के बीच से उठ कर आने लगी तो लपक कर बरामदे पर ही मैंने मां के पैर छू लिये। आह्लाद के आप्लावित आवाज में मां ने पूछा, "इस तरह अचानक आ कैसे गए?" इस बार मां को चकित करने में मैं सफल हो गया, "बस तुमसे मिलने आया हूं और क्या!" मां शायद मातृत्व की गौरव-प्रतीति से मुस्कराने लगी। हालांकि मैं प्रसंगवश ही आया था, लेकिन यह बात मैंने मां से कही नहीं। दिल्ली से पटना आया था अपने एक आइ०ए०एस० मित्र की बहन की शादी में शरीक होने। पटने से अपना गांव दो-ढाई घंटे दूर था कार-यात्रा के हिसाब से। अफसर मित्र की कार उपलब्ध हो गई तो सोचा, मां से भी मिल ही लूं। जाने फिर कब आना हो इधर उत्तर बिहार की ओर। केंद्रीय इंजिनियरिंग सेवा में होने के कारण भैया जहां-तहां पद-स्थापित होते रहे। गांव आ ही नहीं पाते हैं। मां की देख-भाल का भार एक तरह से उन्होंने मुझ पर ही सौंप दिया है। लेकिन, मुझे भी फुर्सत कहां मिल पाती है। जो पद जितना बड़ा दिखाई पड़ता है, आदमी को वह उतना ही सीमित भी तो करता है।

आंगन में खड़ा मैं यही सब सोचता रहा। कुछ ही देर में मेरे लिए

कुर्सी आ गई । भरी बाल्टी के साथ लोटा रख दिया मेरे सामने । यह सब मां ने नहीं किया । एक सांवली-सी युवती कुर्सी ले आई थी और बारह-तेरह साल की एक लड़की भरी बाल्टी और लोटा रख गयी थी । मैं प्रश्न-सूचक आंखों से मां को देख रहा था । अपनी स्मृति में मैं अपने रिश्तेदारों की तलाश करता रहा । बरामदे पर बैठी यह बुढिया कौन हो सकती है, यह गोरी-सी अधेड़ उम्र की स्त्री कौन हो सकती है और यह सावली-सी युवती जो चाय बनाने बैठी है, यह कौन हो सकती है।···रिश्तेदारों की पूरी पड़ताल मे ये सूरतें मुझे कही नजर नही आयी ।

मां उन सब के सामने ही उनका परिचय देने लगी । उस परिचय से मैंने जाना कि यह सावली-सी युवती आदिवासी है । नाम है शांति एलिजा-बेथ । 'शांति' के साथ 'एलिजाबेथ' शब्द का तुक नही बैठ रहा था । मा ने हंसते हुए बताया कि सिर्फ धर्म ही अंग्रेज का है, बाकी सब कुछ बिलकुल अपनी-जैसा है । मास-मछली कुछ भी नही खाती है । हजारीबाग जिले की है । यहां गांव के हेल्थसेंटर में काम करती है । गोरी-सी अधेड़ उम्र की स्त्री के बारे मे कहा गया कि वह ग्रामीण बैंक मे काम करने वाले किसी यादव जी की घरवाली है और बुढ़िया यादव जी की मा है । बच्चो ने मां को घेर रखा था । दो-ढाई साल का एक गोरा-चिट्टा लड़का मां की गोद मे आकर धम से गिर गया और खिलखिला कर हंसने लगा । उस बच्चे की बहन जिसका मुनमुन नाम बताया गया था, मां के कंधे पकड कर बच्चे के साथ आंख-मिचौनी खेलने लगी । यह सब मुझे बड़ा प्रीतिकर लगा, लेकिन मन मे जाने क्यों, हल्की-सी चोट भी लगी । मां एकदम विभोर थी । ऐसा मेरे अचानक आने के कारण था या मा की अपनी दिनचर्या के कारण था, यह मैं समझ नही पाया ।

पडोस के चाचा के घर से लौटा तब तक शाम हो गई थी । दरवाजे पर खाट लगी हुई थी । मां अधेड़ उम्र की उस स्त्री के साथ दरवाजे की आखिरी छोर पर खड़ी मेरी ही राह देख रही थी । दरवाजे पर आया तो

शांति एलिजाबेथ नाम की उसी सांवली-सी युवती ने खाट पर चादर बिछा दी और बगल में चुपचाप खड़ी हो गयी जैसे किसी आदेश की प्रतीक्षा में हो। थोड़ी देर बाद उसको जैसे कुछ याद आया और वह झपटती हुई आंगन की तरफ चली गयी।

बगल में दहलीज के पास बिजली का बल्ब जल रहा था। पुरवैया सिहर रही थी और झूलते तार में लटका बल्ब धीरे-धीरे हिल रहा था। बल्ब के हिलने के कारण रोशनी सागर की लहरों की तरह किनारे तक आ-आ कर फिर लौट जाती थी।

खाट पर मेरे सामने मां प्रसन्नचित बैठी थी और मुझसे घर-परिवार बहू का हाल-चाल वगैरह पूछ रही थी। मेरे भीतर शुरू से ही कुलबुलाता प्रश्न बाहर निकल आया, "इस घर को धर्मशाला बनाने की क्या जरूरत थी मां? ऐसी क्या जरूरत हो गई कि मकान को किराये पर लगा दिया?" मा ने मेरी आंखों में धूल झोंकने की कोशिश की, "नहीं··· किराए पर कहां लगाया है! ···यह शांति बेचारी गांव के अस्पताल में आई। बच्चा लिए हुए थी गोद में। कहीं ठौर नहीं था गांव में। आखिर मैंने ही कहा कि आकर रहो मेरे साथ। मैं भी अकेली हूं इतना बड़ा घर··· बड़ा सूना-सूना लगता था बेटा।···इस प्रसंग को मैंने काट दिया और मां को दूसरे हल्के-फुल्के सवालों और जिज्ञासाओं से बहलाने की चेष्टा करने लगा। लेकिन मां थी कि लौट-लौटकर वहीं आ जाती थी। कहने लगी, "ग्रामीण बैंक वाले 'जादो जी' (यादव जी) तुम्हारे ममहर के हैं— कोशिकापुर के बगल में है न रामघाट! वहीं के हैं। इनको भी कोई जगह नहीं मिल रही थी।"

मैंने मन-ही-मन कहा कि अच्छा अजायबघर बना रखा है मा ने इस घर को। गांव में जिसको भी जगह न मिले वह आ जाय इस मकान में। किराये वगैर के विषय में मा ने कुछ बताया नहीं। यादव जी की बारह-तेरह साल की लड़की मुनमुन इस बीच चाय दे गई थी। मा अंदर आंगन

की तरफ गई और शांति एलिजावेथ के साल भर के बच्चे को गोद में लिए वापस आ गई। यादव जी के बच्चे मां को बुआ कह रहे थे जिसका अर्थ यह था कि यादव जी को मां अपना भाई मानती हैं।

दहलीज के पास बिजली के तार में झूलते बल्ब की रोशनी की लहर जब हमारे पास तक पहुंचती तो मैं गौर से मां की गोद में पड़े बच्चे को देखता। बच्चा मेरी ओर अजनबी आंखों से देख लेता और सहम कर मां के शरीर से चिपकने लगता, "यह बच्चा तुम से खूब घुलमिल गया है मां। नाम क्या है इसका ?" मैंने यह प्रश्न मां से पूछा था, लेकिन उत्तर पास खड़ी शांति एलिजावेथ ने दिया, "नाम तो रॉबिन था। मां जी 'रबीन' कहती हैं। अब यही रबीन नाम चल गया है।"

"रबीन या रवीन्द्र ?" मैंने मुस्कराते हुए पूछा तो शांति हल्की-सी हंसी हंसने लगी। रोशनी की लहर में सांवले-चिकने और एक हद तक सुंदर चेहरे पर हंसी उजली रेखा-सी खिंच गई।

गोद के बच्चे को दुलारते हुए मां ने मुझसे पूछा, "मुन्ना तो इससे बड़ा हो गया होगा, नहीं ?"

"कौन मुन्ना ? बंटी के विषय में पूछ रही हो क्या मां ?"

"हां-हां···क्या नाम है, बंटी ?"

"हां, बंटी कहते हैं हमलोग। वह तो बड़ा हो गया है। खूब दौड़ता है अब तो।"

"मां ने ऊपर आकाश की तरफ देखते हुए अपनी स्मृति में कुछ टटोला। कुछ क्षण चुप रहकर धीरे से बोली, "बहुत दिन हो गए। बंटी के जन्म के समय मैं तुम्हारे घर थी।"

"तुम्हारा घर क्यों मां ?" मैंने हल्की-सी पीड़ा झेलते हुए कहा तो मां चुप हो गयी। फिर घुटती हुई आवाज में बोली, "घर तो तुम्हारा ही है न रे।" मां के संवाद की ध्वनि बहुत गूढ नहीं थी कि पकड़ में न आती। मैं मायूस हो गया। मां ने मेरे या भैया के घर की ज्यादा चर्चा नहीं की।

बस अपनी नयी पारिवारिक जिंदगी के विषय में बताती रही। रिश्ते का मेरा एक मौसेरा भाई रामविलास जो यहां रहकर खेती-बाड़ी की देख-रेख करता है उसके विषय में मां ने बताया कि हफ्ते भर के लिए वह घर चला गया है। किसी केयरटेकर की तरह मां पूरी आमदनी का मोटा-मोटा हिसाब देने लगी। इन बातों में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं थी। प्रसंग बदलते हुए मां कहने लगी, "मत भेजा करो तुम दोनों भाई रुपये। मैं क्या करूंगी इतने रुपये लेकर! खेती की आमदनी तो खर्च हो ही नहीं पाती है। लोग रुपये मांगकर ले जाते हैं और जो ले जाते हैं वे लौटाकर तो कभी देते नहीं।"

शांति खाना खाने के लिए बुलाने आयी थी। मां ने हड़बड़ाते हुए कहा, "हां, चलो खा लो। रात हो गई है।" मैंने कार में सोये ड्राइवर से खाना खाने के लिए कहा और मां के पीछे-पीछे आंगन में आ गया। शांति और यादव जी की पत्नी खाना खिलाने के लिए तैयार खड़ी थी। थाली, छिपली और कटोरियों में जो खाना मेरे सामने रखा गया उसको देखते ही मुझे लगा, मेरे लिए अति विशिष्ट भोजन तैयार किया गया है। खाने के दरम्यान शांति और यादव जी की पत्नी मेरे सामने खड़ी रही। बगल में मोढ़े पर मां भी बैठी थी। खाना समाप्त ही करने जा रहा था कि यादव जी आ गए। मां उनसे बोली, "तुम भी बैठ ही जाओ। साथ-साथ खाओगे तो बबुआ दो कौर 'बेसी' खा लेगा।" लेकिन मैंने ज्यादा खा लिया था। आसानी से उठता हुआ बोला, "नहीं मां, अब बस करो।"

आंगन वाले चौड़े-से बरामदे पर मां का पलंग लगा हुआ था। खाना खाने के बाद मैं बाहर दरवाजे पर चला गया। यादव जी खाना खाकर आये तो देर तक उनसे बातचीत करता रहा। यादव जी ने मेरे मामा के घर-परिवार के विषय में बताया। दिन-ब-दिन टूटता मामा का परिवार बिकती जमीन, गरीबी और बदहाली—तमाम बातें एक हद तक पुरानी

हो चली थी। मामा के घर से मेरा कोई रागात्मक संबंध कभी नही रहा इसलिए सूचित स्थितियो की असंलग्नता मे ही मैंने यादव जी की बातें सुनीं।

आंगन वाले कमरे मे मेरे सोने की व्यवस्था की गई थी। यादव जी अपने साथ मुझे आगन में ले गए। बरामदे पर लगे पलंग पर मां लेटी हुई थी। शांति का साल भर कर बेटा मां से सटा सोया था। शांति और यादव जी की पत्नी मां के पैर दबा रही थी। उन दोनों ने मुझे देखा तो पैर दबाना छोड पलंग के एक किनारे बैठ गयी।

अवसन्न मनःस्थिति मे मैं आंगन में खड़ा रहा। फिर धीरे-धीरे चल कर कमरे मे आ गया। सिलिंग फैन को थोड़ा तेज किया और मसहरी को सलीके से फैलाकर लेट गया। मेरी समझ मे अब आया था कि मकान के चार कमरे मा ने किराये के बहाने क्यों शांति और यादव जी को दे दिये हैं। मां ने शायद मुझसे झूठ ही कहा कि कमरे किराये पर हैं। कमरे निश्चय ही किराये पर लगे नही होंगे। जहां स्नेह की इतनी प्रगाढ़ता है वहां बीच में पैसा कैसे आ सकता है?

मां की शायद यही भूख थी जो कभी तृप्त नही हुई मेरे या भैया के साथ रहकर। सुविधाएं तो मैंने भी कम नही दी मां को। कभी किसी चीज की कमी नही होने दी। दिल्ली के अपने बड़े-से फ्लैट में एक पूरा कमरा ही मां के हवाले कर दिया था।

वे गर्मियों के दिन थे, इसलिए मां वाले कमरे में भी एयरकूलर लगवा दिया था। फ्रिज के ठंडे पानी की व्यवस्था थी। पलग पर मोटे फोम का गद्दा था। मनोरंजन के लिए रंगीन टी० वी० सेट तो था ही। ऐसी-ऐसी सुविधाओं की मैंने व्यवस्था कर रखी थी जिनकी मां ने कभी कल्पना भी न की होगी। पत्नी सुलेखा भी यथासंभव मां का ख्याल रखती ही थी। हालांकि नौकरी में होने की वजह से घर के लिए सुलेखा को ज्यादा समय नही मिल पाता था, फिर भी वह मां से जब-तब कुछ पूछ-ताछ जरूर कर

लेती थी। इन सबके बावजूद चार महीने में ही मां एकदम ऊब गई थी और पहुंचा देने की जिद करने लगी थी। मां की यह जिद मुझे उसी तरह अच्छी नहीं लग रही थी जैसे किसी बच्चे को ढेर-सारे खिलौने दे दो, फिर भी वह रोता रहे। पत्नी चूंकि आसन्नप्रसवा थी, इसलिए मां मन मारकर कुछ दिन रुकी रहीं। बच्चे का जन्म हुआ और उसके पंद्रह दिन बाद मां ने फिर गांव पहुंचा देने की बात उठाई। मैंने समझाने की कोशिश की, "वहां गांव में क्या रखा है मां? वहां तो कोई है नहीं अब। यहां आखिर क्या कमी है तुमको?"

इसका उत्तर मां की वह अर्थपूर्ण हल्की-सी हंसी होती थी।

छत के शून्य में कुछ ढूंढती-सी मां सिर्फ इतना कहती थी, "फिर भी अपने घर की बात कुछ अलग ही होती है, बेटा!"

"अपना घर?···यह क्या तुम्हारा घर नहीं है मां?" मां के पास इस जटिल-से प्रश्न का उत्तर नहीं होता था। वह उंगलियों से फर्श पर न खिंचने वाली रेखाएं बनाने लगती थी और एकदम बेमन से बात को संभालने के तहत हंस देती थी, "नहीं, है तो अपना घर! फिर भी ··"

यह एक अधूरा शब्द 'फिर भी' मां के अंतर्मन की पूरी छाया को प्रकाशित कर देता था।

मैं जानता था कि अपने जिस घर के लिए मां इतनी व्याकुल हैं, वह घर महीने-दो महीने बाद से ही काटने दौड़ेगा और मां की भाग-दौड़ फिर शुरू हो जाएगी।

पिताजी के इंतकाल के बाद से मां इसलिए अशांत और अनस्थिर रहने लगी थी। जब तक पिताजी जीवित थे, मां किसी रिश्तेदार के यहां कभी नहीं गयी। अब दूर-दराज के रिश्तेदार भी मां को याद आने

लगे थे।

पिताजी को गुजरे दो-ढाई साल हुए थे तब। मैं अफसरी में उन दिनों नहीं था। कस्बे के एक कालेज में अस्थायी पद पर लेक्चरर था। मां गांव में थी। मां के अकेलेपन और अनाश्रय पर सोचकर मैं मां को अपने साथ ले आया था। दो-ढाई महीने में ही मां ऊब गई थीं। कहने लगी थी "मुझे अपने मामा के गाव पहुंचा दो। छोटका भैया से मिले बहुत दिन हो गये हैं।"

"बहुत दिन कहा हुए हैं मां ? अभी पिछले साल ही तो गयी थी मामा के यहां।" दरअसल मैं मा को वहा जाने से रोकना चाहता था। मामा की आर्थिक स्थिति अच्छी नही थी। कई वर्ष पहले मुकदमे में उनकी पूरी जमीन बिक गई थी और वे गांव के ही एक बड़े किसान के यहां सिपहगिरी करने लगे थे। मामा के घर की गरीबी की बात मैंने मां से कही तो मां विवश भाव से हंसने लगी, "कुछ भी हो, आखिर है तो मेरा मायका फिर देखा नहीं है तुमने, तुम्हारे छोटका मामा कितना चाहते हैं मुझे!"

हार कर मैं मां को साथ लिए मामा के गाव गया था। मेहमान को खिलाने लायक भोजन की व्यवस्था करने में भी मामा असमर्थ थे। उनके घर की गरीबी आंखो में और मन में टूटे कांच की तरह गड़ती थी। फिर भी मा के प्रति मामा और मामी का जो स्नेह मैंने देखा वह विभोर करने वाला था। उसी दिन मुझे यह बोध हुआ था कि किसी को यदि अपनी इज्जत और ऊंचाई देखनी हो तो अपने सबसे गरीब रिश्तेदार के यहां जाना चाहिए।

ढाई-तीन महीने मां मामा के घर रही। फिर मामा को साथ लेकर

गांव चली आईं। मेरा मौसेरा भाई रामविलास था गांव में। कुछ ही दिनों में मां को गांव के घर का सूनापन परेशान करने लगा था। मां रामविलास को ले सुदूर के एक गांव में अपनी किसी चचेरी बहन के यहां चली गयी। भैया ने मुझे चिट्ठी लिखी कि मां को मैं उनके पास लखनऊ पहुंचा दूं। लेकिन मां उन दिनों अपने गांव में नहीं थीं।

उसके बाद मैं सरकारी सेवा के लिए चुन लिया गया और कुछ ही महीने बाद दिल्ली आ गया। चिट्ठियों के माध्यम से मां से संपर्क बना रहा। रामविलास भाई की चिट्ठियों से पता चलता था कि मां वहां हैं कैसी हैं! मां का यहां वहां बेमतलब जाना मुझे बुरा लगता था। भैया एक बार दिल्ली आए तो मुझसे बोले, "मां को आखिर कमी क्या है? आकर रहे मेरे पास।" मैं भी यही सोचता था मां की बाबत। मेरे साथ या भैया के साथ रहने मे मां की आखिर झिचक क्या है?

भैया दरअसल मेरी शादी के लिए मुझसे बात करने आये थे। लखनऊ, में ही उन्होंने मेरे लिए रिश्ता तय कर लिया था। शादी भी लखनऊ से ही हुई। मां बुलायी गयी थी। शादी के बाद मैं दिल्ली चला आया। मां को भैया ने अपने साथ ही रख लिया। चार या पांच महीने बाद भैया मां को लिए हुए मेरे पास आ गये। मैं समझ नहीं पाया कि भैया के पास इतने कम समय में ही मां ऊब कैसे गयी। मां से पूछा तो वही परिचित हसी, "मन नहीं लगा।" "खैर, मेरे साथ रहो मां! दिल्ली में मन लगेगा तुम्हारा। कोई तकलीफ नहीं होगी।"

तकलीफ मैंने सचमुच नहीं होने दी। जितना कुछ हो सकता था, मैंने किया। फिर भी मुझे लगता था, मां उदास रहती हैं और आत्मनिर्वासन-सा झेल रही हैं। दिन में घर बिलकुल खाली हो जाता था।

अनुवाद ब्यूरो मे काम मिल गया था। वह यथासमय दफ्तर चली जाती थी। बड़े-से उस फ्लैट मे मां अकेली छूट जाती थी। मां के अकेलेपन पर सोचकर मुझे पीड़ा होती थी, लेकिन मैं कर भी क्या सकता था। एक उपाय मैंने सोचा। गांव में मैंने देखा था कि मां जब-तब खाली वक्त काटने के लिए 'सुखसागर' पढ़ा करती थी। कचौड़ी गली बनारस से प्रकाशित पुस्तकें बेचने वाले के यहां 'बम्बई अक्षरो में मुद्रित' 'सुखसागर' मिल गया। 'सुखसागर' पाकर मां प्रसन्न हुईं, ऐसा तो स्पष्टतः मुझे नही लगा, लेकिन समय काटने का एक बहाना मां को अवश्य मिला। देर रात तक मां अपने कमरे में बैठी 'सुखसागर' पढ़ती मिलती थी। एक प्रसग मां बार-बार पढा करती थी और अक्सर पहले पृष्ठ से ही पढ़ना शुरू करती थी। 'सुखसागर' का आरंभिक अंश मां के बार-बार रटने के कारण मुझे भी याद हो गया था……"एक समय नैमिषारण्य तीर्थ में एकत्र हुए शौनकादि अठासी हजार ऋषियों ने वेदव्यासजी ने कहा—"हे सूत जी, इस घोर कलियुग मे……"

लेकिन 'सुखसागर' भी सुख नही दे सका मां को। मैंने एक और उपाय ढूंढा। पडौस की दो-तीन मा-टाइप बूढ़ी औरतों से मां का परिचय कराया और उस परिचय को प्रगाढ़ करने की भी कोशिश की। लेकिन मुझे इस उद्देश्य में भी सफलता नही मिली। अपनी भाषा, स्वभाव-संस्कार और ग्रामीण जीवन-प्रणाली के कारण मां इतनी अलग और दूर जा पड़ती थी कि उन बूढ़ी औरतों से संबंध और संवाद का कोई पुल ही नहीं बन पाता था। गांव पहुंचा देने की जिद मां फिर करने लगी थीं। रोज ही कहतीं, "गांव पहुंचा दो मुझे।"

तंग आकर मां को गांव पहुंचाने के लिए मुझे जाना पड़ा। हालांकि

मैं खिन्न था और सोचा करता था कि आखिर मां चाहती क्या हैं। सुविधाओं का मैंने अंबार लगा दिया था। संपन्नता और सुविधाओं के बावजूद मां गांव जाने के लिए बेचैन थीं तो मैं क्या कर सकता था। पत्नी की तरफ से भी कोई कमी नही हुई। हालांकि वह खुद नौकरी मे थी और मां के साथ समय बिताने के मौके उसको कम ही मिल पाते थे। फिर एक बात और थी। पत्नी सुलेखा का रहन-सहन, परिवेद, शिक्षा-दीक्षा, भाषा और जीवन-प्रणाली मां की जीवन प्रणाली से सर्वथा विपरीत पड़ती थी। उस खाई को पाटना मेरे लिए संभव ही नही था। सुलेखा देहाती बहू तो बन नही सकती थी जो अपनी सास की सेवा-टहल करे। जो पत्नी मेरे पैर नही दबा सकती थी, उससे यह उम्मीद करना कि सास के 'हाथ-गोड़' करेगी, बिलकुल फिजूल बात थी।

मां को जब मैंने इस दफा गांव पहुंचाया तभी मुझे लगा कि सुविधाएं तो मैंने मा को दीं और भरपूर दी। दिल से चाहता भी था कि मेरे और भैया के लिए जीवन भर दुख उठाने वाली मां को बुढ़ापे में पूरा सुख मिले, लेकिन मुझे क्या पता था कि मन का सुख सबसे बड़ा सुख होता है। आदमी सुविधाओं में नहीं, अपने इच्छित परिवेश में ही मन भर जी पाता है।

···तीन वर्ष बाद गांव आया हूं मां से मिलने। घर को देख रहा हूं। सब कुछ यथास्थान होते हुए भी, एकदम बदला हुआ है। लगता ही नही है कि यही वह घर है जहां पिताजी की मृत्यु के बाद भायं-भायं करते सन्नाटे मे मां अकेली किसी कोने में पड़ी रहती थी। एकदम बदला हुआ है सब कुछ। लगता है, मां के भीतर का खोया हुआ बहुत कुछ लौट आया

है। जीवन ही जीवन है मा के भीतर।

सुबह सोया हुआ ही था, उसी समय यादव जी की पत्नी चाय की प्याली रख गई। हाथ में चाय की प्याली लिए मां भी आ गईं। मुझे सुबह ही लौटना था। शान्ति एलिजाबेथ नामक उस आदिवासी युवती ने झट-पट नाश्ता तैयार किया। मुझे ऐसा लग रहा था जैसे एक ही परिवार रह रहा है इस आंगन में और उस परिवार की प्रधान मां हैं। मुझे विस्मय हो रहा था। यह कैसी आत्मीयता है! कैसा कौटुम्बिक सम्बन्ध है। एक कायस्थ परिवार में छोटे भाई की तरह यादव जी, भतीजी-भतीजियों की तरह बच्चे'''और हजारीबाग के जाने किस इलाके की यह आदिवासी ईसाई युवती!

यादव जी, उनकी पत्नी-बच्चे और शान्ति एलिजाबेथ सब मां के साथ मुझे कार तक छोड़ने आये। थोड़ी ठेस भी लगी मन पर और आश्चर्य भी हुआ कि मां के चेहरे पर अकेले छूट जाने के दीन-भाव की छाया तक नहीं है। बहुत वर्षों बाद अपना वह खोया हुआ घर मुझे बड़ी शिद्दत से याद आने लगा था जब मैं और भैया कॉलेज में पढते थे। दादा-दादी, चाची, मां और पिताजी सब तरह मुझे और भैया को छोड़ने घर से आगे तक आते थे। उन स्थितियों की जैसे वापसी थी यह। मां की तुलना में मैं ज्यादा भावुक और गमगीन हो रहा था।

विदा के समय विपर्यय की यह विचित्र स्थिति थी जिसे मैं झेल रहा था। मां का चेहरा निर्विकार था, ऐसा तो मुझे नहीं लगा, लेकिन विकल्प खोज लेने की आश्वस्ति मां के चेहरे पर जरूर थी। मां की तुलना में मैं अपने को ज्यादा अकेला महसूस कर रहा था। आश्चर्य था। महानगर की सुख-सुविधाओं, की इज्जतदार नौकरी, खूबसूत सुशिक्षिता पत्नी, बच्चे,

नौकर-चाकर, सोफर-चपरासी, इन सबके बावजूद मैं मां को तुलना में अपने को अकेला पा रहा था। सोचकर, दया भाव से आया था कि गांव में छूट गई मां अकेली और असहाय स्थिति में होंगी, लेकिन…।

(1987)

चलो, यहां से चलें

करुणेश्वरी बाबू की मृत्यु यदि कॉलेज के अहाते में बने उनके क्वार्टर में न हुई होती तो निश्चय ही उतनी महत्वपूर्ण न हुई होती। एक शोक-सभा होती, संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डॉ० शक्तिनाथ ठाकुर का लिखा शोक-प्रस्ताव प्रधानाचार्य पढ़ते, दिवंगत आत्मा की चिरशान्ति के लिए एक मिनट का मौन रखा जाता और सभा विसर्जित हो जाती। प्रधानाचार्य एक दिन के शोकावकाश की घोषणा करते। बस इतना ही होता, क्योंकि अमूमन यही सब होता है किसी कॉलेज में। विश्वविद्यालय के प्रीमियर कहे जाने वाले कॉलेज में भी यही होता। न इससे कम, न इससे अधिक।

विश्वविद्यालय का प्रीमियर कॉलेज है तो साल में तीन-चार मौतें आश्चर्यजनक नहीं हैं। कभी कोई छात्र मरता है या आत्महत्या करता है, कभी किसी कार्यरत या सेवा शिक्षक की मृत्यु होती है, कभी तृतीय या चतुर्थ वर्गीय कोई कर्मचारी स्वर्ग सिधारता है।

इस बार तो तीन महीने की अवधि में दो मौतें हो गयी। ढाई महीने पहले दर्शनशास्त्र विभाग में रीडर डॉ० राय दिवंगत हो गये। उम्र चालीस-बयालीस के आस-पास थी और तीन दिन पहले कार्यालय के लेखा विभाग में कोषपाल करुणेश्वरी शरण की मृत्यु हो गई। दोनों ही मौतें हर्ट एटैक से हुई। डॉ० राय लम्बी छुट्टियों में अपने घर रांची गये थे। वहीं

एटैक हुआ। कॉलेज जब खुला तब पता चला। डॉ० शक्तिनाथ बाबू को बुलाया गया। शोक-प्रस्ताव लिखा गया। फिर शिक्षकों, छात्र-छात्राओं और शिक्षकेतर कर्मचारियों की शोक सभा हुई। शोक-प्रस्ताव पढ़ा गया। एक मिनट का मौन रखा गया। प्रधानाचार्य ने एक दिन के शोकावकाश की घोषणा की। लोग डॉ० राय की यादों को बातचीत के प्रसंग में लाते हुए धीरे-धीरे बिखर गए। शांत सोये जल में फेंके गये एक छोटे ढेले से लहर उठी और धीरे-धीरे विलीन हो गई।

करुणेश्वरी बाबू की मृत्यु चूंकि कॉलेज के अहाते में बने उनके क्वार्टर में हुई थी और शवदाह बगल में ही अहाते के बाहर नदी के दूसरे किनारे पर किया गया था, इसलिए मिला-जुला कर कॉलेज तीन दिनों तक बन्द रहा। करुणेश्वरी बाबू की मृत्यु डॉ० राय की मृत्यु की तरह एकदम अचानक ढंग से नहीं हुई थी, यह भी एक फर्क रहा। पहला एटैक एक-सवा महीने पहले हुआ था। चिकित्सा चल रही थी। पटना मेडिकल कॉलेज-अस्पताल के डाक्टरों की सलाह पर उनको आयुर्विज्ञान संस्थान दिल्ली ले जाया गया था। दिल्ली पहुंचते ही उनकी स्थिति में सुधार के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। वहां खबर आई कि हर्ट का ऑपरेशन होने वाला है। खर्च तीस-पैंतीस हजार के आस-पास बताया गया था। अब सवाल यह था कि एक मामूली कर्मचारी इतने रुपये की व्यवस्था कैसे करे। करुणेश्वरी बाबू के पी० एफ० एकाउंट में नाम-मात्र की मुद्रा बची थी। अग्रिम वेतन से भी यह सवाल हल होने वाला नहीं था। शिक्षकों और शिक्षकेतर कर्मचारियों के स्थानीय शाखासचिवों ने इसका उपाय ढूंढ़ा। शिक्षक—संघ के शाखा-सचिव प्रो० पी०एल० श्रीवास्तव ने कॉलेज के शिक्षकों से आर्थिक सहायता की अपील की ताकि करुणेश्वरी बाबू के हर्ट के ऑपरेशन के लिए व्यवस्था हो सके। शिक्षक-सचिव ने निर्णय लिया कि कॉलेज शिक्षक संघ के सभी सदस्य पचास-पचास रुपये की सहायता करें। तृतीय और चतुर्थ वर्गीय कर्मचारियों ने एक दिन का वेतन दे दिया। शिक्षक संघ की कॉलेज

शाखा के सचिव प्रो० पी० एल० श्रीवास्तव ने एक अपील जारी की। अपील के अन्त में कहा गया कि प्रत्येक शिक्षक चालू महीने के अपने वेतन से पचास रुपये की कटौती करा दें। इस अपील पर आधे से अधिक शिक्षकों के हस्ताक्षर हो गये। कुछ शिक्षकों ने सचिव से कहा कि वे पचास रुपये नकद ही देंगे, वेतन से कटौती नहीं करायेंगे। शिक्षक सचिव प्रधानाचार्य से मिले और इसकी बावत सलाह-मशविरा किया। प्रधानाचार्य ने लेखा विभाग को निर्देश दिया कि जिन शिक्षकों ने कटौती की अपील पर हस्ताक्षर किये हैं उनके चालू महीने के वेतन से पचास रुपये की कटौती कर ली जाय और कटौती की राशि को अलग 'हेड' में जमा किया जाय।

यह प्रक्रिया चल रही थी कि चौदह-पंद्रह दिन बाद करुणेश्वरी बाबू को दिल्ली से वापस ले आया गया। मालूम हुआ कि डॉक्टरों ने उनकी हालत में सुधार पाया है और ऑपरेशन के लिए उनको पांच महीने बाद जनवरी में बुलाया गया है। मरीज को यह सख्त हिदायत दी गई है। (दिल की बीमारी के हर मरीज को यही हिदायत दी जाती है) कि जज्बाती हादसे से बचे रहें।

शिक्षकों के बीच आबदान में पैदा हो गये कीड़ों की तरह यह बात रेंगनी शुरू हो गई कि ऑपरेशन यदि अगले साल यानी पांच महीने बाद जनवरी में होना है तो चालू महीने के वेतन से कटौती क्यों की जा रही है? शिक्षकों के वैचारिक जगत में एक हलचल दिखाई पड़ी। कुछ शिक्षकों ने वेतन से पचास रुपये की इस कटौती को शिक्षक-सचिव का मनमाना फैसला कहा। यह भी कहा जाने लगा कि शिक्षक-सचिव का 'आर्बिट्ररी डिसिजन' घातक है। शिक्षक-संघ के सचिव को यह अधिकार ही नहीं है। किसी के वेतन से कटौती तभी हो सकती है जब वह शिक्षक लिखित रूप से इसके लिए प्रधानाचार्य से आग्रह करे और अपने वेतन-विपत्र में इसका स्पष्ट उल्लेख कर दे। यह कोई बकाया राशि के भुगतान का मामला नहीं

है कि प्रधानाचार्य लेखा-विभाग को कटौती का आदेश दे देंगे।

शिक्षकों का एक वर्ग यह भी कहने लगा कि फ्लैट रेट से पचास रुपये चंदा उगाहना गैरवाजिब है। जिस शिक्षक ने अभी-अभी पदभार ग्रहण किया है उसको भी पचास रुपये और जो शिक्षक रिटायर होने वाले हैं और साढ़े तीन हजार वेतन पाते हैं उनको भी पचास रुपये ? यह कैसा बेहूदा फैसला है ? यदि करुणेश्वरी बाबू की सहायता ही करनी है तो सहायता की राशि सहायता करने वाले की मर्जी पर छोड़ देनी चाहिए। कोई चाहे तो सौ रुपये दे, कोई चाहे तो दस दे, कोई चाहे तो न दे। यह क्या बात हुई कि शिक्षक संघ के सचिव ने मनमाना फैसला कर लिया और प्रधानाचार्य ने लेखा विभाग को आदेश दे दिया कि कटौती कर ली जाय ? वाह रे वाह।...

निवर्तमान शिक्षक संघ के सचिव डॉ० लीलाधर मिश्र ने कहा, "तब तो यही होगा कि किसी दिन शिक्षक संघ के हमारे माननीय सचिव प्रधानाचार्य को लिखकर दे देंगे कि पूरे महीने का वेतन अमुक सहायता में चला गया। अब लीजिए।...यह तो बड़ी खतरनाक परम्परा शुरू हो रही है कॉलेज में।"

डॉ० लीलाधर मिश्र ने एक दूसरा हस्ताक्षर अभियान शुरू किया। शिक्षकों के निवास पर जा-जाकर उन्होंने इस प्रस्ताव पर हस्ताक्षर लिए कि शिक्षक-संघ के सचिव का बलात् पचास रुपये वेतन से कटौती कराना अजनतांत्रिक एवं तानाशाही रवैया है। हम इसकी निंदा करते हैं। साथ ही शिक्षक संघ के सचिव को यह चेतावनी दी जाती है कि भविष्य मे ऐसी कोई कारंवाई न करें।...

हस्ताक्षर अभियान मे ऐसा हुआ कि कुछ ऐसे शिक्षकों ने भी इस पर हस्ताक्षर कर दिए जिन्होने शिक्षक-संघ के सचिव प्रो० पी०एल० श्रीवास्तव की अपील पर हस्ताक्षर किये थे। इस नये हस्ताक्षर अभियान मे डॉ. लीलाधर मिश्र जितने हस्ताक्षर बटोर सके वे हस्ताक्षर उनको संघ-

शक्ति के प्रमाण थे। इस प्रस्ताव या फैसले (जो भी कहा जाय) की एक प्रति प्रधानाचार्य को दे दी गई।

प्रधानाचार्य करुणेश्वरी बाबू को देखने एक या दो बार गए थे। कॉलेज में पांच-छह शिक्षक ऐसे भी थे जो श्रीवास्तव और मिश्र—गुट से एकदम अलग थे। इनको जो मदद करनी थी ये कर आये थे। ये अक्सर करुणेश्वरी बाबू को देखने जाते, हाल-चाल पूछते और उनकी पत्नी को आश्वस्त करते कि कोई आवश्यकता आ पड़े तो उनको अवश्य याद किया जाय। शेष लगभग सारे शिक्षकों ने सुना था कि करुणेश्वरी बाबू को एटैक हुआ था, उनको दिल्ली ले जाया गया था और दिल्ली में कहा गया कि कि ऑपरेशन पांच महीने बाद यानी अगले साल जनवरी में होगा। करुणेश्वरी बाबू की हालत अब कैसी है, सुधार हो रहा है या नहीं, इसकी सही जानकारी इनको नहीं थी। जानकारी थी तो बस इतनी कि यदि जनवरी में ऑपरेशन होना है तो पांच महीने पहले पचास रुपये की सहायता-राशि की क्या जरूरत है? दिसम्बर महीने में जिसकी मर्जी होगी वह देगा, जिसकी मर्जी होगी वह न देगा!

शिक्षक स्पष्टतः दो गुटों में बंट गये। एक वर्ग जो पहले बड़ा था लेकिन विरोधी गुट डॉ० लीलाधर मिश्र की चुनौती के कारण छोटा पड़ गया है वह प्रो० पी० एल० श्रीवास्तव का गुट है। इस गुट को अक्सर ब्राह्मणेतर शिक्षकों का समर्थन मिलता रहा है, लेकिन इधर यह गुट थोड़ा गड़बड़ा गया है। डॉ० लीलाधर मिश्र ने शिक्षक-संघ के सचिव प्रो० श्रीवास्तव की एक कमजोर नब्ज पकड़ ली है कि ऑपरेशन यदि जनवरी में होना है तो पांच महीने पहले वेतन से पचास रुपये की कटौती क्यों? फिर कोई मनमानी अपील जारी करना और शिक्षकों को 'डेलिकेट पॉजिशन' में डाल कर हस्ताक्षर करा लेना एक घातक परम्परा की शुरूआत नहीं तो और क्या है? इस आधार पर मिश्र गुट इधर कुछ ताकतवर दिखाई पड़ रहा है। डॉ० लीलाधर मिश्र का यह भी कहना है कि करुणेश्वरी बाबू के

लिए शिक्षकेतर कर्मचारियों का संघ क्यों कुछ नहीं कर रहा है। जब उनका संघ अलग है तो वह संघ उनके लिए कुछ करे। शिक्षकेतर कर्मचारियों के लिए विश्वविद्यालय में सहायता-कोष है। जाकर करें हंगामा विश्व-विद्यालय में। हम क्यों करें सहायता?…

डॉ० मिश्र ने शिक्षकेतर कर्मचारियों, खास तौर से कार्यालय लेखा-विभाग पर एक जबर्दस्त आरोप लगाया। कहा कि दर्शनशास्त्र विभाग में रीडर डॉ० राय, जिनकी मृत्यु ढाई महीने पहले हुई है, उनकी विधवा को लेखा-विभाग परेशान कर रहा है। बेचारी विधवा एक तो यों ही किस्मत की मारी हुई है, उस पर लेखा विभाग उनको और परेशान कर रहा है। बेचारी अपने स्वर्गीय पति के पी० एफ०, ग्रुप इंस्योरेंस आदि के पैसों के लिए दौड़ रही है और लेखा-कर्मचारी उनसे घूस लेकर रसगुल्ले उड़ा रहे हैं। यकीन न आये तो जाकर पूछ लीजिए बेचारी विधवा से। कॉलिज के गेट पर बैठी एक दिन रो रही थी। लेखा-विभाग के कर्मचारियों का शिक्षकों के प्रति ऐसा घृणित व्यवहार है तो हम क्यों करें उसी विभाग के कोषपाल की सहायता?…

यह सूचना बेधक थी और शिक्षकों का क्षुब्ध होना स्वाभाविक था। कार्यालय का लेखा-विभाग इसी कॉलिज के स्वर्गीय डॉ० राय की बेवा को रुला रहा है। मिश्र गुट ने इस बात का जम कर प्रचार किया। कुछ शिक्षकों ने दबी जबान से यह भी कहा कि शिक्षक-संघ के सचिव प्रो० पी० एल० श्रीवास्तव चूंकि कायस्थ हैं इसलिए करुणेश्वरी बाबू के लिए हाय-तोबा मचाये हुए हैं। दो साल पहले बड़ा बाबू हरेन्द्र झा लम्बी बीमारी से जूझते-जूझते आखिरकार मर गये, तब श्रीवास्तव जी चुप क्यों थे? अब श्रीवास्तव जी को करुणेश्वरी बाबू की पीड़ा सताने लगी है? उस समय कहां थे?

जिस दिन बैंक में वेतन जा रहा था उस दिन शिक्षकों ने प्रधानाचार्य का घेराव किया। लेखा विभाग से वेतन की जो सूची बैंक को भेजी जा

रही थी उसमें उन शिक्षकों के वेतन से पचास रुपये की कटौती की गयी थी जिन्होंने शिक्षक-संघ के सचिव प्रो० श्रीवास्तव की अपील पर हस्ताक्षर किये थे। प्रधानाचार्य के चेम्बर में मिश्र-गुट के शिक्षकों ने हंगामा शुरू किया कि 'डेलिकेट पॉजिशन' में डाल कर चालाकी से हस्ताक्षर कराये गये हैं। करुणेश्वरी बाबू का ऑपरेशन होगा पांच महीने बाद जनवरी में, फिर अभी चालू महीने के वेतन से हम क्यों कटौती करायें ? देना होगा तो हम बाद में देंगे, लेकिन वेतन से कटौती नहीं करायेंगे। डॉ०लीलाधर मिश्र की गोटी एकदम सही बैठी थी। श्रीवास्तव जी चारोंखाने चित्त जा पड़े थे। उनके समर्थकों की संख्या कम हो गयी थी। मिश्र-गुट के शिक्षक यह आरोप भी लगा रहे थे कि प्रो० श्रीवास्तव शिक्षकों का विश्वास खो चुके हैं। संघ की सामान्य बैठक में इसका निर्णय होना चाहिए। कुछ शिक्षकों ने खुलेआम प्रो० श्रीवास्तव पर जातिवादी होने का आरोप लगाया। प्रधानाचार्य ने आखिर तंग आकर कार्यालय के लेखा-विभाग को आदेश दिया कि केवल उन्हीं शिक्षकों के वेतन से कटौती की जाय जिन्होंने वेतन-विपत्र में कटौती का उल्लेख किया है। डॉ० लीलाधर मिश्र के नेतृत्व वाले गुट में थोड़ी देर के लिए खुशी की लहर व्याप गयी। यह छोटी-सी विजय कम महत्वपूर्ण नहीं थी। श्रीवास्तव-गुट कटौती वाले मुद्दे पर लड़खड़ा गया था। जातीय समीकरण ही गड़बड़ हो रहा था। प्रो० श्रीवास्तव ब्राह्मणेतर जातियों के शिक्षकों के बल पर नेता बने हुए थे, लेकिन वेतन से पचास रुपये की कटौती का अभियान उनको ले डूबा। मिश्र-गुट तो यह चाह रहा था कि संघ की सामान्य बैठक बुलायी जाए और प्रो० श्रीवास्तव अपना बहुमत प्रमाणित करें।

जिस दिन बैंक में शिक्षकों का वेतन भेजा गया उसके तीसरे दिन रात के दूसरे पहर करुणेश्वरी बाबू की मृत्यु हो गयी। अगले दिन कॉलेज

में शोक-सभा हुई। संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डॉ० शक्तिनाथ ठाकुर ने झटपट शोक-प्रस्ताव लिखा। प्रधानाचार्य ने वह शोक-प्रस्ताव पढ़ा—शिक्षकों, छात्र-छात्राओं और शिक्षकेतर कर्मचारियों की यह सभा महा-विद्यालय-कार्यालय के लेखा विभाग में कोषपाल श्री करुणेश्वरी शरण के असामयिक निधन पर गहरा शोक प्रकट करती है। साथ ही उनके शोक-संतप्त परिवार के प्रति हार्दिक संवेदना प्रकट करती हुई यह सभा दिवंगत आत्मा की चिर शांति के लिए परम-पिता परमेश्वर से प्रार्थना करती है।···सभा यह प्रस्ताव भी पारित करती है कि शोक-प्रस्ताव की एक प्रति उनके परिवार को तथा एक प्रति प्रेस को भेज दी जाए।···"

कॉलेज बंद हो गया। छात्र-छात्राएं, शिक्षक और शिक्षकेतर कर्मचारी धीरे-धीरे बिखरने लगे। कुछ शिक्षक बातचीत करते हुए टुकड़ियों में निकले। कुछ करुणेश्वरी बाबू के क्वार्टर की तरफ चले गये। शव को बाहर निकाल कर रख दिया गया था। बड़े-बेटे के आने की प्रतीक्षा की जा रही थी। बड़ा बेटा संजय एम०आई०टी० मुजफ्फरपुर में अंतिम वर्ष का छात्र था। कॉलेज का दरवान जंग बहादुर सुबह की बस से मुजफ्फरपुर चला गया था। शिक्षकों का एक झुंड शव के दर्शन के बाद गेट के बाहर पान-सिगरेट की दूकान पर रुक गया था। हिंदी विभाग में वीर रस के कवि मार्तण्ड जी कह रहे थे, "चलो, करुणेश्वरी शरण ने करुणा की और पचास रुपये बेलाग बच गये।" मुंह में पान के बीड़े दबाये शिक्षक उनकी इस टिप्पणी पर मुस्कराये। एक ने कहा, "हां, सो तो हुआ। करुणेश्वरी बाबू की मृत्यु से एक विवाद भी खत्म हो गया।"

लेकिन विवाद खत्म हुआ नहीं है। श्रीवास्तव-गुट के कुछ शिक्षकों का कहना है कि करुणेश्वरी बाबू के हर्ट के ऑपरेशन के लिए उन्होंने रुपये

दिये थे। रुपये एक अलग 'हेड' में पड़े हुए हैं। खर्च तो हुए नही। और जब करुणेश्वरी बाबू ही मर गये तो ऑपरेशन की बात कहां उठती है? इन शिक्षकों का कहना है कि उनके रुपये उनको लौटा दिये जायें।

कुछ शिक्षक कह रहे हैं कि इन्ही रुपयों से करुणेश्वरी बाबू के बेसहारा हो गये परिवार की मदद कर दी जाए। परिवार को बीच मझधार मे छोड़ गये है करुणेश्वरी बाबू। तीन लड़कियां हैं छोटी-छोटी। दो लडके हैं और दोनों कॉलेज मे पढ़ रहे हैं। क्या होगा उनका! अब तो कॉलेज का यह क्वार्टर भी छोड़ना पड़ेगा। तब कहां जायेगा उनका परिवार? कही कोई ठौर-ठिकाना भी तो नहीं है। गांव मे डीह भर बचा है। जमीन-जायदाद तो कुछ है नही। थोड़ी-सी जमीन खरीदी थी उन्होने इस शहर में। सोचा था कि हाउसिंग बोर्ड से लोन-वोन लेकर छोटा-सा घर बनायेंगे, लेकिन सारा काम अधूरा छोड कर वे चले गये।...

करुणेश्वरी बाबू के परिवार का कारुणिक दृश्य प्रस्तुत कर कुछ सहृदय शिक्षक यह दलील दे रहे हैं कि जमा किये गये रुपये उनके परिवार को दे दिये जायें। कुछ शिक्षक दबी जबान से इस प्रस्ताव का विरोध कर रहे हैं। कहते हैं कि ऑपरेशन के लिए उन्होने रुपये दिये थे। सहायता की बात अलग है। सहायता ही करनी है तो इतने थोड़े रुपयों से क्या होगी सहायता? ऊंट के मुंह मे जीरे का फोरन? चंदा अभियान शुरु किया जाना चाहिए...। लेकिन एक काम तो इससे भी आसान है। क्यो नही करुणेश्वरी बाबू के दूसरे लड़के को कॉलेज के कार्यालय में ही किसी पद पर लगा दिया जाए? साल-डेढ़ साल डेली वेज पर काम करेगा तो रेगुलर हो ही जायेगा। ऐसा अगर हो जाए तो डूबते परिवार को भारी सहारा मिल जायेगा।... प्रो० श्रीवास्तव ने मिश्र-गुट में चले गये अपने कुछ पुराने समर्थकों से भी इसकी बाबत बातचीत की। फिर एक दिन कॉलेज

की अंतिम घंटी के बाद कुछ शिक्षकों को साथ लेकर वे करुणेश्वरी बाबू के क्वार्टर पर पहुचे। क्वार्टर में भायं-भायं करता सन्नाटा था। [illegible] समाप्त हो गया था। शोक और चिंता की काली छाया [illegible] परिवार के अवसाद पर फैली हुई थी। क्वार्टर के भीतरी भाग में किवाड़ के चौखट पर करुणेश्वरी बाबू की विधवा बदहवास पड़ी हुई थी। बच्चे भी खाट पर और धूल भरी फर्श पर जैसे-तैसे पड़े हुए थे। एम०आइ०टी० मुजफ्फरपुर में अंतिम वर्ष का छात्र करुणेश्वरी बाबू का बड़ा बेटा संजय कमरे में टूटी हुई एक कुर्सी पर बैठा था और सूनी-उदास आंखों से दरवाजे की तरफ देख रहा था। प्रो० श्रीवास्तव ने बरामदे से आवाज दी। बहुत धीरे-धीरे चल कर संजय बरामदे पर आया। प्रो० श्रीवास्तव ने छोटे बच्चे को पुचकारने के लहजे मे संजय से कुशल-समाचार पूछे और कहा, "जरा अपनी मां को भेज दे बेटे।" किवाड़ के चौखट पर पड़ी मां ने सुन लिया था। शरीर में थोड़ी हरकत हुई। अस्त-व्यस्त कपड़ों को यथासंभव ठीक किया और यंत्रवत् बरामदे के किवाड़ के पास थोड़ा ओट लेकर खड़ी हो गयी। प्रो० श्रीवास्तव ने मन की बात को पान की तरह चबाते हुए कहा, "विजय को इसी कॉलेज के दफ्तर में लगाने की बात हमलोग चला रहे हैं।···" उनको पूरी उम्मीद थी कि संजय की मां इस सूचना से प्रसन्न हो जायेगी। संजय की मां ने आंचल के छोर को दोनों हथेलियों में ले लिया और करबद्ध-मुद्रा में सामने खड़ी हो गयी। यह याद भी नहीं रहा उनको कि प्रो० श्रीवास्तव से वे परदा करती रही हैं। चीखती हुई-सी वे इस तरह बोलने लगी जैसे हर लफ्ज पर दिल टूट-टूट कर गिर रहा हो, "आपलोग रहम कीजिए हम पर! रहम कीजिए प्रोफेसर साहब! कोई मदद नहीं चाहिए हमें। हम तो ऐसे ही मर गये हैं, अब और मत मारिये। विनती करती हूं।···इसी सोक में वे मर गये।···जब उनको मालूम हुआ

कि उनके ऑपरेशन के खर्च के लिए आपलोग चंदा बटोर रहे हैं और इसके लिए आपस में लड़-झगड़ रहे हैं, गुटबाजी कर रहे हैं, कोई हां कर रहा है, कोई ना कर रहा है तो उनको बहुत चोट पहुंची। फूट-फूट कर रोने लगे थे वे। फिर जाने क्या हुआ कि छाती में जोर का दर्द उठा और···" संजय की मां बोलते-बोलते पछाड़ खाकर गिर पड़ी।···

(वर्त्तमान साहित्य, मार्च '88)

पितृशोक

अब इस विवेचन में क्या रखा है कि पिता जी की मृत्यु किन परिस्थितियों मे हुई। वे चिकित्सा के अभाव में मरे या बुढ़ापे के कारण स्वाभाविक मौत मरे, इस माथा पच्ची मे पड़ने का भी अब कोई अर्थ नही रह गया है। जब वे मर ही गये और उनका क्रिया-कर्म भी शानदार ढंग से संपन्न हो चुका तो इस बेमतलब के 'हेतुहेतुमद्‌भूत' में कुछ भी सार्थक क्या रह गया है ?···लेकिन क्रिया-कर्म की समाप्ति के बाद गांव से शहर लौटते हुए रेलगाड़ी में जो फटेहाल लड़का दिख गया था वह मुझे परेशानी में डाल देता है। मुझ-जैसे अफसर के लिए रेलगाड़ी के सफर मे मिले एक अनजान देहाती लड़के की भला क्या अहमियत ! कोई खेतिहार मजदूर रहा होगा। काला-कलूटा, फटी हुई गंदी धोती और जगह-जगह से तुड़ा-मुड़ा पुराना-सा बेडौल बुश्शर्ट पहने वह लड़का क्यों मेरे लिए चुनौती बन जाता है। यह भी नही समझ पाता हूं कि पिताजी के मृत्यु-प्रसंग में वह कुरूप, गवांर और फटेहाल लड़का क्यों मेरी आंखों के आगे आ जाता है। इस गवांर लड़के की याद के साथ क्यो एक सवाल मेरे जेहन में तूफान मचाने लगता है ?···

ऊपरी स्तर पर यह कहने मे मुझे सुविधा और सुरक्षा महसूस होती है कि पिता जी बूढ़े थे, इसलिए मर गये। बुढ़ापे का कोई इलाज ...। लेकिन अपने भीतर बैठ कर कभी-कभी सोचता हूं तो लगता

स्वाभाविक मौत नही मरे। कुछ वर्ष और जी सकते थे वे। आखिर बासठ-तिरेसठ वर्ष की आयु को ही बूढ़े होने की आखिरी सीमा क्यों मान लें?

पिता जी के गभीर रूप से बीमार होने की सूचना पाकर जब मैं गाव गया था तब कई लोगों ने मुझे सलाह दी थी कि यदि ठीक ढग से इलाज हो और खाने-पीने की अच्छी व्यवस्था रहे तो पिताजी कुछ वर्ष और देख लेंगे। मा ने दबी-दबी जबान मे इसकी तरफ इशारा भी किया था, "यहां गांव मे दवा-दारू का इंतजाम हो नही पाता है बबुआ। छोटी जगह है, छोटे डागडर हैं। फिर उतना पैसा भी नही रहता है कि ढग का खाना दिया जा सके तुम्हारे पिता जी को।"···मां आगे कुछ और कहना चाहती थी, लेकिन मैंने बीच मे ही मां की बातों को दूसरी दिशा दे दी, "उसकी चिंता मत करो मां। मैं दे कर जाता हूं रुपये-पैसे।" मां मेरी बात काटती हुई धीरे से बोली थी, "नहीं, लाली रुपये-पैसे की बात नही है बबुआ। मैं तो चाहती थी कि अपने साथ ले जाते इनको। बड़े अस्पताल मे···" मां की बात बीच में ही कट गयी थी। खपरैल की छप्पर की ओर एकटक देखती जैसे अपनी कही बात का सुधार करती हुई मां बोली थी,"···लेकिन क्या ले जाओगे। सेवा-टहल में दिक्कत होगी वहां। गाव-घर छोड़ कर कहीं जाने को ये तैयार भी हो तब न!" मां ने मेरे मन की ही बात छीन ली थी। प्रफुल्लित होते हुए मैंने कहा था, "यही तो मैं कहता हू मां। पिता जी गांव छोड़कर जायेंगे नही। इसलिए कहता हूं कि इलाज वगैरह यहीं हो और डॉक्टर के कहे मुताबिक खाना दिया जाय। असल बात यह है मां कि आदमी को वही रहना चाहिए जहां उसका जी लगे। जिस जगह आत्मा को संतोष न मिले, वहा रहने से आदमी टूट जाता है। है कि नही? और पिता जी को तो जानती ही हो! जब तक दो-चार लोग इनको घेरे न रहे तब तक इनका मन ही नही लगता। अब बताओ कि शहर मे इनको कौन मिलेगा?"—"ठीक ही कहते हो बेटा" बोल कर मां चुप रह गयी थी। रुपये-पैसे देकर मैं शहर लौट आया था। तीसरा महीना भी नही बीता था

कि बड़े भैया का तार मिला—पिता जी नहीं रहे।...

मृत्यु के पांचवें दिन तार मिला था। सपरिवार गांव पहुंचा। बड़े-बुजुर्गों ने जिस ढंग से क्रिया-कर्म और भोज-भात करने को कहा, उससे काफी बढ़-चढ़ कर खर्च किया गया। महाभोज तो इतने शानदार ढंग से हुआ कि लोगों की याददाश्त में बसने वाली बात हो गयी वह।

क्रिया-कर्म संपन्न करने के बाद रेलगाड़ी से सपरिवार लौट रहा था। वापसी की उस यात्रा में मृत पिता जी की बहुत याद आ रही थी। मन अनजाने ही पिता जी की मृत्यु के कारणों की तलाश करता रहा। हर कारण आखिरकार उसी बिंदु पर पहुंच जाता कि पिता जी की मृत्यु स्वाभाविक मृत्यु नहीं थी। गांव के लोगों की और खास तौर से मां की सलाह याद आती तो मन किसी अपराध-भावना से ग्रस्त होने लगता। रेलयात्रा के दौरान मन बार-बार इसी उधेड़-बुन में उलझा रहा।

गाड़ी किसी छोटे-से स्टेशन पर रुकी थी और वह काला-कलूटा फटेहाल लड़का बाहों में एक बुढ़िया को किसी सामान की तरह उठाये डिब्बे में घुसा था। चीथड़े-जैसे मारकिन की साड़ी में बुढ़िया लिपटी हुई थी। लड़का बुढ़िया को बाहों में टांगे पूरे डब्बे में जगह की तलाश करता रहा और अंततः मेरे बैठने की जगह के सामने वाले पैसेज में आकर खड़ा हो गया। चीथड़ों में लिपटी बुढ़िया इतनी गंदी दिखायी पड़ती थी कि खाली जगह होने के बावजूद कोई यात्री बुढ़िया को जगह देने के लिए तैयार नहीं था। पूरे डब्बे का चक्कर लगा कर लड़का मेरे सामने की बेंच पर खाली जगह देखता खड़ा हो गया था। उस बेंच पर तीन आदमी थे। यात्रा के दौरान उन तीनों में मेरा परिचय हो गया था। एक हिंदी के प्राध्यापक थे, दूसरे डिप्टी कलक्टर थे और तीसरे एक मास्टर साहब थे। प्राध्यापक महोदय और डिप्टी-कलक्टर साहब ने जब लड़के... तो इस आशंका से ज्यादा ही अपनी जगह पर पसर गये लड़का गंदी बुढ़िया को इसी बेंच पर न बिठा दे। मैं सामने की

पर बैठा था उस पर मेरा पूरा परिवार था। आसानी से वहां जगह नहीं बन सकती थी। लड़का जब थोड़ी देर बुढ़िया को बाहों में किसी भारी सामान की तरह उठाये खड़ा रहा तो कोने में बैठे मास्टर साहब थोड़ा खिसक गये और लड़के के लिए जगह बना दी। लड़के ने पहले बुढ़िया को बिठाया और फिर उंगलियों भर जगह पर बैठकर बुढ़िया को सहारा देने लगा। बगल में बैठे प्राध्यापक महोदय और डिप्टी कलक्टर साहब ने नाक सिकोड़ ली। मुझे भी घिन हुई देख कर। हम सब ने इसके लिए उस देहाती दच्चर से मास्टर साहब को जिम्मेदार ठहराया। यात्रा के दौरान मास्टर साहब से सद्भाव का जो संबंध बना था वह अचानक ही टूट गया।

हम सबने बुढ़िया की ओर से आंखें फेर लीं। बेहद घृणा हो रही थी बुढ़िया को देख कर। एक मास्टर साहब थे जो बेमतलब लड़के से बतिया रहे थे। उस बातचीत से मुझे यह मालूम हो गया कि लड़का बुढ़िया का बेटा है। बुढ़िया किसी गम्भीर बीमारी से ग्रस्त है। बेटा इलाज के लिए इसे शहर ले जा रहा है। अगले एक स्टेशन पर लड़का उतरा और दौड़कर बुढ़िया के लिए पानी ले आया। बुढ़िया के शरीर से निकली दुर्गंध और कुरूपता से बचने के लिए मैं विपरीत दिशा की खिड़की से गर्मियों की शाम में भागते दृश्यों को देख रहा था। शौचालय की तरफ गया तो देखा, शौचालय का दरवाजा खुला है और वही लड़का बुढ़िया को सहारा देकर बिठाये शौच करा रहा है। देख कर ऐसा लगा जैसे कोई पिता अपनी छोटी सी बच्ची को शौच के लिए बिठाये हुए हो। बगल के दूसरे शौचालय से मैं बाहर निकला तो देखा लड़का बुढ़िया को चीथड़े-जैसी साड़ी पहना रहा है। मैंने आंखें फेर लीं। बेहद घृणा हो आयी देख कर। बुढ़िया बीमारी के कारण एकदम बदहवास-सी लग रही थी। बेटे की गोद में लुढ़की पड़ी बुढ़िया का सिर दबाते हुए लड़का कुछ पूछ रहा था। घृणा भरे इस दृश्य से बचने के लिए प्राध्यापक महोदय कोई रंगीन पत्रिका पढ़ने लगे थे और डिप्टी कलक्टर साहब सुबह के बासी अंग्रेजी अखबार के पन्नों में डूब गये

थे। एक वही खूसट मास्टर साहब थे जो लड़के से कुछ पूछ-ताछ कर रहे थे। हैंडलूम की धोती-कुर्ता पहने उस देहाती ढच्चर के मास्टर पर हम सब का गुस्सा था, क्योंकि उन्होंने ही बुढ़िया के लिए जगह बनायी थी। मास्टर साहब से लड़के की बातचीत के जो टुकड़े अनचाहे ही मेरे पास लुढ़कते हुए पहुंच रहे थे, उनके आधार पर मैंने जाना था कि लड़का चार-पांच किलोमीटर दूर के अपने गांव से बुढ़िया को खाट पर लाद कर रेलवे-स्टेशन आया था। कोई चचेरा भाई भी था उसके साथ जो स्टेशन से लौट गया। बुढ़िया और उसका बेटा खेतिहर मजदूर हैं। संपत्ति के नाम पर एक बकरी थी और एक पाठा था जिन्हें बेच कर लड़का अपनी मां को इलाज के लिए शहर ले जा रहा है।

पांच-छह स्टेशन बाद लड़का बुढ़िया को पहले की तरह बाहों में उठाये एक बड़े-से रेलवे जंक्शन पर उतर गया। हम सब ने राहत की सांस ली। डब्बे में एक परिवार आ गया था। अधेड़ उम्र के एक सभ्य-सुसंस्कृत सज्जन थे। आचार-व्यवहार से ही लगा कि उनके साथ उनकी पत्नी थी और दो जवान बेटियां थी। उनको जगह मांगनी नहीं पड़ी। प्राध्यापक महोदय और डिप्टी कलक्टर साहब ने जरूरत से ज्यादा जगह बना दी। सिर्फ देहाती ढच्चर के वे मास्टर साहब बिना हिले-डुले बैठे रहे। मास्टर साहब के गवांरूपन और असभ्यता का यह दूसरा प्रमाण था। मेरे साथ-साथ प्राध्यापक महोदय और डिप्टी कलक्टर साहब ने हिकारत की नजरों से उन देहाती मास्टर को देखा। मैं भी खिसक कर एक किनारे हो गया ताकि बॉब्ड हेयर वाली खूबसूरत युवती को खड़ा न रहना पड़े।

सब आराम से बैठ गये तो मुझे एकाएक उस लड़के का ध्यान आया जो कुछ ही देर पहले बुढ़िया को लेकर रेलवे जंक्शन पर उतरा था। यह बड़ी विचित्र बात थी कि अपनी गैर-मौजूदगी के बाद गवांर और फटेहाल लड़का एक प्रश्न की तरह मेरी आंखों के सामने खड़ा था। उस गंदे, असभ्य खेतिहर मजदूर को मैं बर्दाश्त नहीं कर पा रहा था, लेकिन अपने ही सामने

मैं बहुत लाचार था। अब मुझे पक्का विश्वास हो गया था कि जिस पिता जी का इतने शानदार ढंग से क्रिया-कर्म संपन्न कर मैं वापस जा रहा हूं, वे मेरे पिता जी स्वाभाविक मौत नही मरे थे। वे कुछ समय तक और जीवित रह सकते थे। आश्चर्य था कि यह बोध मुझे काले-कलूटे असभ्य और गवांर लड़के से मिल रहा था जिस लड़के में मेरे चपरासी बनने की योग्यता भी नहीं थी। जाने क्यों, मैं भीतर से अशांत था और प्राप्त बोध मेरे लिए आत्म-यातना बनता जा रहा था।

(हिन्दुस्तान, 17 जून '88)

□□□